जड़ी बूटी चिकित्सा

एक संदर्शिका

डॉ. प्रणव पण्ड्या एम. डी.

2.3

जड़ी-बूटी चिकित्सा

एक संदर्शिका

सम्पादक

डॉ0 प्रणव पण्ड्या

एम.डी

प्रकाशक

वेदमाता गायत्री ट्रस्ट

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार 249 411

सन् 2004

मूल्य 8.00

प्राक्कथन

प्रकृति ने मनुष्य के लिये हर वस्तु उत्पन्न की है । औषधि उपचार के लिए जड़ी-बूटियाँ भी प्रदान की हैं । इस आधार पर चिकित्सा को सर्वसुलभ, प्रतिक्रियाहीन तथा सस्ता बनाया जा सकता है । जड़ी-बूटी चिकित्सा बदनाम इसलिये हुई कि उसकी पहचान भुलां दी गयी-विज्ञान झुठला दिया गया । सही जड़ी-बूटी उपयुक्त क्षेत्र से, उपयुक्त मौसम में एकत्र की जाए; उसे सही ढंग से रखा और प्रयुक्त किया जाए तो, आज भी उनका चमत्कारी प्रभाव देखा जा सकता है ।

युग ऋषि पं० श्रीराम शर्मा आचार्य के आशीर्वाद से, ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान ने इस दिशा में सफल शोध-प्रयोग किये हैं । गिनी-चुनी जड़ी-बूटियों से लगभग ८० प्रतिशत रोगों का उपचार सहज ही किया जा सकता है। ऐसी सरल, सुगम, सस्ती परन्तु प्रभावशाली चिकित्सा-पद्धति जन-जन तक पहुँचाने के लिए यह पुस्तक प्रकाशित की गई है । जड़ी-बूटियों की पहचान, गुण, उपयोग-विधि सभी स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास किया गया है ।

इस पुस्तक में ऐसी जड़ी-बूटियों को प्राथमिकता दी गई है, जो भारत में अधिकांश क्षेत्रों में पायी जाती हैं अथवा उगायी जा सकती हैं । आचार्यवर की इच्छा है कि यह विधा विकसित हो और रोग निवारण के साथ-साथ जन-जन को प्राण शक्ति संवर्धन का लाभ भी प्राप्त हो । ऋषियों द्वारा विकसित इस विधा का लाभ पुनः जन-जन को मिले ।

- डॉ. प्रणव पण्ड्या एम. डी.

जड़ी-बूटी चिकित्सा- एक संदर्शिका



आने वाले समय में न तो संसाधनों की कमी रहने वाली है, न ही तकनीकी दृष्टि से विकसित सुविधा साधनों की । हमें आशा रखनी चाहिए कि महाविनाश की सारी तैयारियों के बावजूद विवेक का वर्चस्व बना रहेगा एवं अज्ञान, अभाव को दूर कर एक सद्भावनापूर्ण समाज विकसित होगा । एक आशंका फिर भी मन में रहती है कि वर्तमान जीवन पद्धति, चिन्तन की विकृति एवं आधुनिक विकास के चलते, क्या स्रष्टा का राजकुमार- सभी प्राणियों में सिरमौर मनुष्य इस स्थिति में होगा कि साधनों का सदुपयोग कर सके ?स्वयं अपने आपको सर्वांगपूर्ण स्वस्थ एवं संतुलित बनाए रख सके ? यह इस कारण प्रतीत होता है कि आज के विकास की घुड़-दौड़ में भाग रहा मानव, गहराई से देखने पर काफी कुछ खोखला नजर आता है । उसकी जीवनी शक्ति चुक सी गयी लगती है । थोड़ा सा मौसम का असंतुलन उसे व्याधिग्रस्त कर देता है । सनक, भ्रान्तियाँ, आवेश, उत्तेजना, अवसाद जैसे मनोविकारग्रस्त व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है । बाहर से स्वस्थ, सुडौल दीखते हुए भी व्यक्ति की जड़ें कमजोर दिखाई देती हैं । आहार उपलब्ध होते हुए भी वह खाने की स्थिति में नजर नहीं आता है । इसे आधुनिक जीवन की रीति-नीति कहें या प्रगति की दिशा में भटकना, कुछ भी नाम दे लें; पर लगता यही है कि ये वे मजबूत कंधे नहीं हैं, जिन पर समाज, राष्ट्र, विश्व की इक्कीसवीं सदी का बोझ लादकर आगे बढ़ना है ।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति ने निदान के साधन इतने जुटा दिये हैं कि रोग की जाँच-पड़ताल अब अधिक समय नहीं लेती । पर "मनुष्य रोगी है," यह वही मानने को तैयार न हो, वह बाहर से स्वस्थ दीख भी न पड़े, तो समझना चाहिए कि कहीं कोई गड़बड़ी है । आहार की अनियमितता, अस्त-व्यस्त रूप में आधुनिक औषधियों का सेवन,

नीम-हकीमों की बढ़ती संख्या, चिन्तन क्षेत्र में छाया भ्रान्तियों का कुहासा- ये सभी आज सारे मानव समुदाय को अस्वस्थ बनाये हुए हैं। लक्षण बाहर से दिखायी नहीं पड़ते। घुन-दीमक की तरह अन्तर्विकार अन्दर से व्यक्ति को खोखला बनाते रहते एवं बाहर की लीपा-पोती से प्रकाश में नहीं आ पाते हैं। ऐसे में लगता है नया मानव तैयार करने के लिए ऐसी वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति तलाशनी ही होगी, जो व्यक्ति को समग्र रूप से आरोग्य प्रदान करे, उसकी क्षीण होती जा रही जीवनी शक्ति को सहारा दे। चाहे प्रसंग अत्याधुनिक विकसित राष्ट्रों का हो अथवा अविकसित विकासशील तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के नागरिकों का, सभी पर यह बात समान रूप से लागू होती है।

सही उपचार पद्धति कौन सी हो ?

चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के नामों पर जब भी विचार होता है, तो वह एक सीमित दायरे में घूमकर रह जाता है। ऐलोपैथी की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने रोगों के कारणों के बारे में आधुनिक ढंग से चिन्तन करना सिखाया। चिकित्सा पद्धति कितनी निरापद है, इस विवाद में पड़े बिना यह चर्चा करना अभीष्ट होगा कि वर्तमान परिस्थितियों में एक विशाल समुदाय में उपचार का मंत्र किस तरह फूँका जाय। उपचार के नाम पर चारों ओर नजर दौड़ाते हैं, तो प्रकृति के आँगन में फलने-फूलने वाली वनौषधियों के माध्यम से चिकित्सा ही हर दृष्टि से हानिरहित, सस्ती, सुगम एवं अधिक लाभकारी प्रतीत होती है। यहाँ आयुर्वेद एवं वनौषधि विज्ञान के अन्तर को समझना जरूरी है। आयुर्वेद के धन्वन्तरि काल से लेकर अब तक के विकास में अनेकों परिवर्तन होते हुए चले आए हैं। आज के आयुर्वेद के रूप को देखते हुए मन में ग्लानि सी होती है। जो विधा अपनी दिव्य शक्ति सम्पन्न जड़ी-बूटियों के कारण काया-कल्प कर सकने तक में सक्षम मानी जाती रही है, उसे आयुर्वेद पढ़ कर डिग्री प्राप्त करने वाले ही प्रयुक्त न कर ऐलोपैथी की शरण लेते देखे जाते हैं। यह मात्र बौद्धिक परावलम्बन एवं पश्चिम की अन्धाधुंध नकल ही नहीं है,

शरीर को स्थायी हानि पहुँचाने की कीमत पर तुरन्त लाभ मिलने की, रोगी व चिकित्सक की-दोनों की मिली भगत की नीति भी है ।

जीवनी शक्ति संवर्धक वनौषधियाँ यदि कहीं नजर आती हैं, तो पंसारियों की दुकानों में, जहाँ से वे सड़ी-गली, घुन लगी स्थिति में पड़ी होती हैं । सही ढंग से एकत्र न हुई, घास-पात के साथ मिली ये औषधियाँ क्या असर करेंगी ? जबकि सभी जानते हैं कि तोड़े जाने के बाद ३ से ६ माह के बाद इनके सभी गुण-धर्म लगभग समाप्त प्राय हो जाते हैं । शान्तिकुंज गायत्री तीर्थ द्वारा यह प्रयास किया गया है कि जन-साधारण को आयुर्वेद के गौरव, वनौषधि विज्ञान की महत्ता समझायी जाय । उन्हें यथा शक्ति स्वाभाविक रूप से प्रयोग करने योग्य बना कर, सेवन विधि का प्रतिपादन किया जाय एवं यदि सम्भव हो, तो ऐसी पौधशालायें स्थान-स्थान पर लगायी जाएँ; ताकि उनके ताजे रूप में सेवन का प्रचलन बढ़े ।

आयुर्वेद का पुनर्जीवन क्यों जरूरी ?

आयुर्वेद मूलतः अथर्ववेद का उपांग है और पाँचवे वेद के रूप में प्रख्यात है । अग्निवेश इस विधा के प्रणेता माने जाते हैं, जिन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन पुनर्वसु आत्रेय से किया था; किन्तु अथर्ववेद जिसके एक अंग के रूप में आयुर्वेद ने जन्म लिया, उसमें अथर्वा ऋषि के माध्यम से यह बताया गया है कि समस्त जीव समुदाय के लिए विधाता ने प्रकृति जगत् में वनौषधियों का प्रावधान रखा है । गुण, कर्म भेद अलग-अलग हो सकते हैं, किन्तु एक भी पौधा इस धरती पर ऐसा नहीं है, जिसमें औषधीय गुण न हों । विशिष्ट चिकित्सा हेतु सुरक्षित कुछ विष प्रधान जड़ी-बूंटियों की चर्चा न करके शेष पर दृष्टि डाली जाय, तो सभी स्थानीय उपचार (लोकल एप्लीशन) से लेकर समग्र शरीर के उपचार में उपयोगी देखी जा सकती हैं । आयुर्वेद के सुविख्यात आठ तन्त्रों की चर्चा भी यहाँ प्रासंगिक नहीं है; क्योंकि हमारा मूल विषय है वनौषधियों के विभिन्न अनुपान भेद द्वारा एकौषधि अथवा सम्मिश्रण के

रूप में प्रयोग से शरीर व मन की सर्वांगपूर्ण चिकित्सा। शरीर तंत्र व उसकी कार्य विधि की थोड़ी भी जानकारी रखने वाला-व्यक्ति, उस विषय पर प्रस्तुत किये जा रहे प्रतिपादनों द्वारा स्वयं अपनी एवं औरों की चिकित्सा करता रह सकता है। इसी कारण अधिक विस्तार में जाने की अपेक्षा यह उचित समझा गया कि सार संक्षेप में इस चिकित्सा का मूलभूत तत्त्वदर्शन एवं उसकी कार्यपद्धति प्रस्तुत कर दी जाय।

आयुर्वेद प्रकरण के प्रारम्भ में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं रोचक प्रसंग चरक संहिता में आता है। हिमालय क्षेत्र में सभी ऋषियों की सम्मति से महर्षि भरद्वाज देवराज इन्द्र के पास 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों के साधन के आधार-आरोग्य' को हरने वाले रोगों से मुक्ति पाने का उपाय पूछने जाते हैं। देवराज इन्द्र ने यह ज्ञान देव वैद्य अश्विनी कुमारों से एवं अश्विनी कुमारों ने इसे दक्ष प्रजापति से प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति को इस विद्या का शिक्षण स्वयं ब्रह्मा ने दिया था।भरद्वाज मुनि को आयुर्विज्ञान के तीन मूल सूत्र समझाते हुए देवराज इन्द्र कहते हैं कि आयुर्वेद मूलतः तीन स्तम्भों पर टिका है-

(१) प्राणियों के स्वस्थ एवं रुग्ण होने के क्या कारण हैं? (२) स्वस्थ एवं रुग्ण जीवधारियों के लक्षण क्या हैं? (३) स्वस्थ रहने की औषधि (पथ्य एवं जीवनी शक्ति सम्वर्धक बलप्रदायी औषधि) तथा रोगी प्राणी की औषधि क्या है? सारे आयुर्वेद की व्याख्या इन तीन स्तम्भों की धुरी पर चलती है। वनौषधि विज्ञान की व्याख्या भी इसी आधार पर की जा सकती है।

वनौषधि ही क्यों? रस, भस्म-खनिज आदि क्यों नहीं? इस संबंध में यही कहना है कि अपना उद्देश्य आयुर्वेद के मूलभूत स्वरूप का पुनर्जीवन करना है। यह सारी धरती देवताओं द्वारा ले जाये जा रहे अमृत कलश से बूँद रूप में गिरे अमृत से उद्‌भूत वनस्पतियों से विभूषित है। हर वनस्पति अपने पाँचों अंगों में औषधीय विशेषताएँ लिए हुए है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय, तो उनमें जल, स्टार्च, रेजिन्स पेटाइड्स रेसे आदि के रूप में सक्रिय घटक एवं संभावित साइड इफेक्ट (दुष्परिणाम)

को रोकने वाले संघटक भी विद्यमान हैं। इन औषधियों को ताजे रूप में कल्क बनाकर, पीसकर, चटनी के रूप में, घनसत्व के रूप में या छाया में सुखाकर अच्छी तरह महीन पीसकर सूक्ष्मीकृत चूर्ण रूप में दूध, जल, मधु, मिश्री, मलाई, घी या अन्य किसी अनुपान के साथ दिया जाता है। सभी रूपों में ये अपना प्रभाव शीघ्र ही दिखाती हैं। सर्वथा हानिरहित इनका शरीर पर प्रभाव निशाने पर बैठने वाला एवं चिरस्थायी होता है, यह ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के निष्कर्ष बताते हैं। अन्य अनेकों संस्थानों द्वारा किये गये प्रयोग- परीक्षण भी इसकी साक्षी देते हैं। उनके विस्तार में न जाते हुए यहाँ शरीर व मन पर वांछित प्रभाव डालने वाली ४२ औषधियों एवं उनकी प्रयोग विधि की चर्चा की जा रही है। इस संक्षिप्त निर्देशिका से परिजनों को उपचार-प्रक्रिया का तत्त्व दर्शन समझकर, उसे व्यवहार में उतारना आसान हो जायेगा।

विभिन्न संस्थानों के लिए भिन्न-भिन्न औषधियाँ

वनौषधि चिकित्सा का मूल आधार है- सक्रिय संघटकों को नष्ट किए बिना उन्हें संस्थान विशेष के लिए उचित मात्रा में, अनुपान भेद द्वारा जीवनी शक्ति संवर्धन हेतु मुख मार्ग से देना। जहाँ आवश्यक हो, वहाँ उन्हें स्थानीय उपचार हेतु भी प्रयुक्त करना। इस दृष्टि से शरीर के विभिन्न संस्थानों के अनुसार चयन की गयी ४२ औषधियों का वर्णन इस प्रकार है-

(१) मुख, मसूड़े एवं दाँतों के लिए बकुल (मौलश्री) एवं कायफल (२) बालों के लिए - भृंगराज (३) त्वचा सम्बन्धी विकार के लिए-बाकुची (४) मस्तिष्क एवं मनः संस्थान के लिए-ब्राह्मी, जटामांसी, बच (५) नाड़ी संस्थान-ज्योतिष्मति (मालकंगनी) (६) संधि मांस पेशियों सम्बन्धी रोगों के लिए- निर्गुण्डी, रास्ना, सुण्ठी (सौंठ) (७) हृदय एवं रक्तवाही संस्थान-पुनर्नवा, शंखपुष्पी, अर्जुन (८) फेफड़े तथा ऊपरी व निचला श्वास संस्थान- अडूसा, भारंगी, कंटकारि, शिरीष (९) ऊपरी पाचन संस्थान एवं यकृत् (लीवर)- आँवला, मुलैठी, शतपुष्पा, शरपुंखा,

कालमेघ (१०) निचला पाचन संस्थान एवं कृमि रोग- हरड़, बिल्व, अमलतास, नागकेशर, कुटज, बायबिडंग (११) मूत्रवाही एवं जनन संस्थान- गोक्षुर, वरुण, अशोक, लोध्र (१२) रक्त शोधक, संक्रमण नाशक - गिलोय, सारिवा, खदिर, चिरायता (१३) हारमोन संस्थान-कचनार, गुड़मार (१४) बलदायी रसायन- अश्वगन्धा, शतावर (१५) समस्त रोगों की एक ही औषधि द्वारा अनुपान भेद चिकित्सा-तुलसी।

एकौषधि व सम्मिश्रण

प्रसंगवश यहाँ एक दो बातें खुलासा कर देना ठीक रहेगा। आयुर्वेद में होता यह है कि वैद्यगण एक ही औषधि को सभी रोगों की रामबाण दवा बता देते हैं। इस तरह वह कहीं की भी नहीं रहती। स्वाभाविक है कि उसमें वे सक्रिय संघटक हैं, जिस कारण वह कई रोगों के कई लक्षणों, पर अपना अचूक प्रभाव दिखाती है। किन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित हो जाता कि वह उन सभी रोगों में काम में लायी जा सकती है। उसमें कौन से ऐसे सक्रिय औषधि तत्त्व हैं, यह फाईटोकेमीकल एनालिटीकल विधियों द्वारा पता लगाकर किसी रोग विशेष के साथ उसे प्रयुक्त किया जाना ठहराया जा सके, तो बहुत सीमा तक भ्रान्तियाँ मिट सकती हैं। यह प्रयास औषधि निर्धारण में यहाँ किया गया है।

आवश्यकता पड़ने पर एकौषधि एवं सम्मिश्रण के वांछित प्रयोग सम्बन्धी एक और स्पष्टीकरण होना जरूरी है। किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक परिस्थितियों के अनुसार एक ही औषधि लम्बे समय तक प्रयोग करना ठीक होता है, कभी-कभी जरूरी होता है कि कुछ सम्मिश्रण प्रयोग किये जायँ; एक ही गुण-धर्म वाली दो या अधिक वनौषधियाँ इस पुस्तक में जहाँ भी प्रयुक्त किये जाने का विधान बताया गया है, वह यही सोच कर कि इससे औषधियाँ एक-दूसरे की कार्यक्षमता को और भी कई गुना बढ़ाती हैं एवं प्रभाव अधिक तीव्र व जल्दी होता है। सरस्वती पंचक, त्रिकुटा, त्रिफला, दशमूल, पंचमूल आदि प्रयोग शास्त्रोक्त ही नहीं, विज्ञान सम्मत

मानकर यहाँ लिये गये हैं। वनौषधियों के संघटक जब तक एक दूसरे से विच्छेदित नहीं होते, उनमें आपस में रासायनिक क्रिया नहीं होती। वे अपना प्रभाव समूचे रूप में मानव शरीर पर डालते हैं। अतः "ड्रग इंटरएक्शन" जैसी संभावना यहाँ नहीं रह जाती।

औषधियाँ जिन सक्रिय एल्केलाइड्स, पेण्टाएड्स व स्टार्चे-फाइवस आदि से मिलकर बनी होती हैं, वे परस्पर इस प्रकार गुँथे रहते हैं कि उन्हें कल्क रूप में या सत्व रूप में सुखा कर एक ही अंग के या पंचांग के चूर्ण रूप में लेने पर, किसी तरह के हानिकारक प्रभाव की आशंका नहीं करनी चाहिए। एक ही जड़ी-बूटी में प्रोटागोनिस्ट (सहायक व सक्रिय) तथा एण्टागोनिस्ट (निष्प्रभावी) तत्त्व विद्यमान रहते हैं। एण्टागोनिस्ट निष्क्रिय औषधि तत्त्व साइड इफेक्ट्स को प्रभावी होने से पहले रोक देते हैं। इस प्रकार औषधि अपने आप में एक सम्पूर्ण आहार है। उचित मात्रा में उचित अनुपान के साथ लिए जाने पर उसके किसी भी प्रकार दुष्परिणामों की अनावश्यक आशंका नहीं करनी चाहिए।

अनुपान भेद :- अनुपान अर्थात् "वेहीकल" यानी वे पदार्थ, जो औषधि के साथ दिये जाने पर सक्रिय संघटकों (एक्टिव इन्ग्रेडीएन्ट्स) को शरीर में अपने लक्ष्य तक पहुँचाए। अनुपान उसी या अन्य किसी औषधि का स्वरस अथवा क्वाथ भी हो सकता है, अथवा जल, दूध, घी, दही, मधु, मिश्री, मलाई, मक्खन या अन्य किसी तरल पदार्थ के रूप में भी हो सकता है। अनुपान इसलिए अनिवार्य है कि वह औषधि अपने सही रूप में सही स्थान पर पहुँचे। वस्तुतः अनुपान औषधि की क्रियाशीलता को बढ़ा देते हैं।

सामान्यतया ठण्डा या गुनगुना जल अनुपान रूप में प्रयोग करते हैं। गौ दुग्ध भी एक आदर्श अनुपान तथा स्वयं में एक सम्पूर्ण आहार है। लैक्टिक इन्जाइम्स व उसमें विद्यमान वसा के छोटे-छोटे कणों का घोल औषधि को "पेनिटेट्रिंग" प्रवेश योग्य बना देता है। दूध में लगभग २१ प्रकार के इन्जाइम्स पाये जाते हैं। ये जड़ी-बूटियों के एल्केलाइड्स, ग्लाइकोसाइड्स व पेप्टाइड्स को सूक्ष्मीकृत करने की

क्षमता रखते हैं। दूध गर्म करके थोड़ा ठण्डा करके लिया जाय, तो उचित है।

मधु वस्तुतः फूलों का स्वरस है। बाद में मधुमक्खियों द्वारा सक्रिय हारमोन्स के माध्यम से और भी अधिक गाढ़ा इन्जाइम प्रधान बना दिया जाता है। जहाँ फूलों के स्वरस में पानी का अनुपात लगभग सत्तर प्रतिशत होता है, वहाँ मधुमक्खियों के शरीर से गुजर कर आने के बाद वह मात्र दस प्रतिशत रह जाता है। ऐसे सार्द्र द्रव्य पदार्थ के साथ ली गई औषधि पेट से तुरन्त रक्तवाही नलियों में होकर अपने-अपने क्षेत्र में पहुँच जाती है। मधु को जब भी लें, उसे ठण्डी स्थिति में ही लें। जल के साथ मिला कर लें। समान मात्रा में जल के साथ गर्म अवस्था में मिलाने पर तथा घृत के साथ सम-मात्रा में दिए जाने का शरीर पर विष के समान प्रभाव पड़ता है, अतः इस सम्बन्ध में सावधानी बरती जानी चाहिए।

मक्खन, घी, दही, मलाई आदि दूध के परिवर्तित रूप हैं। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें भी प्रयुक्त किया जा सकता है। मिश्री की चाशनी भी मधु के समान एक श्रेष्ठ "वेहीकल" है, जो औषधि की घुलनशीलता को बिना उसके गुण धर्म बदले बढ़ा देती है। किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में इसे भी अनुपान रूप में प्रयोग किया जाता है। सूक्ष्मीकृत चूर्णों में अनुपान भेद का महत्त्व अत्यधिक है, यह अच्छी तरह समझ लिया जाना चाहिए।

अनुपान के कार्यों के सम्बन्ध में चरक सूत्र स्थान (३२० अ० २७) में कहा गया है कि "अनुपान तृप्त करता है, देह एवं इन्द्रियों की कमी को पूर्ण करता है, बल व जीवन देता है, खाये हुए आहार को सर्वत्र शरीर में फैलाने का कार्य करता है व उसे शरीर के साथ एकभाव कर देता है। अनुपान, ली गयी औषधि को विभक्त कर आमाशय व उससे आगे पक्वाशय की ओर ले जाता है। यह अन्न की सघनता को तोड़ता है, कोमलता उत्पन्न करता है। अन्न को गीला कर पचाता व आसानी से अवशोषित हो शरीर में संव्याप्त हो जाने वाला कर देता है"। इसके

अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि जो पेय आहार की सीमा में नहीं आता है, जिनमें स्वयं के औषधि गुण न हों और धातुओं का विरोधी न हो, वही सर्वश्रेष्ठ अनुपान है।

(अ) मुख, मसूड़े व दाँतों की चिकित्सा :- स्वास्थ्य में सीधा जुड़ा हमारे शरीर संस्थान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है-पाचन संस्थान का ऊपरी भाग। यह मुँह खोलने पर नजर आने वाली गुफा गह्वर से आरम्भ होता है एवम् टॉन्सिल के पीछे ऊपर नाक से आने वाली श्वास नलिका "नेजोफेरिक्स" से मिलकर एक नली फेरिक्स बनाता है। इसे ऑरल केवीटी एवम् ओरोफेरिक्स कहते हैं। इसमें खाना चबाने के लिए विधाता द्वारा दाँत प्रदान किये गये हैं। लसिक ग्रंथियाँ अपने स्राव यहीं छोड़ती हैं। खाना देखकर या उसकी सुगन्ध से मुँह से पानी आने की प्रक्रिया स्नायु प्रवाह के कारण यहीं होती है। स्वाद की पहचान जीभ के माध्यम से इसी स्थान पर होती है। वस्तुतः समग्र स्वास्थ्य के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण संस्थान है।यदि दंतक्षय हुआ, मुँह में छाले व मसूड़े मवाद से युक्त हों, तो आहार संतुलन होते हुए भी अन्दर या तो ठीक स्थिति में प्रवेश नहीं कर पाएगा या फिर कीटाणु-गंदगी युक्त होकर पूरे शरीर संस्थान को अस्त-व्यस्त कर देगा। मुँह के छाले [स्टामेटाइटिस] दन्त क्षय [केरीज] एवम् पायरिया जैसे रोगों के लिए दो सर्वश्रेष्ठ औषधियाँ हैं :-बकुल [मौलश्री] एवम् कायफल-कट्फल।

क्र० (१) बकुल (मौलश्री-मिमुसाप्स ऐलेन्गी) को मधुगन्धा भी कहा जाता है।क्योंकि इसके फल सुगन्धित होते हैं एवम् यह गन्ध फूलों में सूखने पर भी स्थायी रहती है। इसका वृक्ष सघन, ५० फीट तक ऊँचा होता है। पहचान, पत्ते की बनावट व पीली आभा लिए पुष्पों से की जा सकती है। अप्रैल, मई में पुष्प आते हैं, जो वर्षा में फल रूप में पक जाते हैं। यह सारे भारत में पाया जाता है।

मौलश्री की छाल, पुष्प या फल प्रयोग में आती हैं। छाल का काढ़ा ५० से १०० सी.सी. [५ से १० छोटे चम्मच के बराबर] तथा पुष्प चूर्ण १ से २ ग्राम की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है।

इसकी छाल में मूलतः टैनिन, गोंद व सैपोनिन होते हैं। फूलों में सुगन्धित तेल होता है।

अन्यान्य संस्थानिक प्रयोगों की चर्चा अभीष्ट नहीं है। फिर भी एक प्रसिद्ध प्रयोग इसका महत्त्वपूर्ण व उल्लेखनीय है। असाध्य सिर दर्द में सूखे फलों के चूर्ण का नस्य (नाक द्वारा सूँघनी रूप में प्रयोग) लेने पर दर्द तुरन्त दूर हो जाता है।

दाँतों में कीड़ा लगने, उनकी जड़ों में मवाद होने, मसूड़ों की सूजन तथा हिल रहे दाँतों में, छाल के काढ़े से कुल्ला कराया जाता है। छाल के चूर्ण का मंजन एवम् कोमल शाखाओं द्वारा दातून करना भी उतना ही लाभकारी है। कुछ विद्वान् कच्चे फल चबाने के लिए भी कहते हैं। इसका कटुकषाय रस दाँतों को मजबूत करता है एवम् मसूड़ों से रक्त-मवाद आना बन्द करता है। मुँह के छाले भी इसके काढ़े के कुल्ले द्वारा ठीक होते हैं। एण्टीबायोटिक्स देने के बाद कम हुई जीवनीशक्ति के कारण संभावित "एप्थस अल्सर्स" से बचाव के लिए उसके काढ़े का कुल्ला लाभकारी है। मुँह के सामान्य बैक्टीरियल फ्लोरा को नष्ट किये बिना अपना लाभकारी प्रभाव दिखाता है। टॉन्सिल की सूजन में भी कुल्ले लाभकारी हैं। इसका वैद्यक विशिष्ट योग बकुलाद्यतेल नाम से उपलब्ध होता है।

(२) काय फल [कट्फल - मिरीकास्क्युलेन्टा] को काय छाल या महावल्कल भी कहते हैं। विशेष रूप में पहाड़ी इलाके में गढ़वाल, कुमायूँ, शिवालिक की घाटियों में ५-६ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। शरद ऋतु में फूल आते हैं व ग्रीष्म ऋतु में पकते हैं। इसको ६ इंच लम्बे भालाकार पत्ते व मोटी भूरी झुर्रीदार छाल से पहचाना जा सकता है।

इसकी छाल मूलतः प्रयोग में आती है। इसके फूलों का तेल भी निकाल कर छाल के काढ़े के समान ही प्रयुक्त होता है। इसकी छाल में मिरीसाइटिन नामक संघटक होता है। टैनिन भी काफी मात्रा में होता है।

बकुल की भाँति इसकी छाल के चूर्ण का नस्य भी जुकाम, सिरदर्द, बेहोशी आदि में लाभकारी है । मुँह के छाले जिनमें संक्रमण हो गया है, इसका चूर्ण संक्रमण नाशक के रूप में कार्य करता है । दाँतों के तेज दर्द, कैविटीज, पायरिया; जिन्जीवाइटिस आदि में कुल्ला या मंजन करने से बहुत जल्दी लाभ होता है । चर्मरोग, त्वचा के गहरे पस भरे घावों में इसके चूर्ण को छिड़कने या लगाने से चमत्कारी प्रभाव होता है ।इसका वैद्यक रूप कट्फलादि क्वाथ के रूप में उपलब्ध होता है ।

(ब) केशों के लिए:- बालों का जल्दी-जल्दी गिरना, निरन्तर झड़ते रहना, जल्दी सफेद होना, रूसी गंजापन आदि रोगों की बहुतायत पायी जाती है। इसका कारण तो आधुनिक जीवन भी है, जिसमें आहार-विहार के नियमों की अवहेलना की जाती है । सौन्दर्य प्रसाधन, साबुन, शैम्पू आदि के प्रयोग से भी बाल बढ़ाने और सुन्दर होने के स्थान पर दवा के साथ-साथ मर्ज बढ़ता ही जाता है, साथ में मनोवैज्ञानिक समस्या भी जुड़ जाती है । इससे उत्पन्न .नाव बालों के झड़ने में और मदद करता है ।

क्र० (३) भृंगराज ऐसी परिस्थितियों में एक सुप्रसिद्ध औषधि है, इसके नाम से कई तेल बाजार में मिलते हैं. पर लाभकारी होते किसी को नहीं देखा जाता। सही ढंग से न बनने, सुगन्ध को ही महत्त्व देने एवम् शास्त्रोक्त प्रयोगों को महत्त्व न देने का ही यह परिणाम है ।

भृंगराज (एक्लीप्टा अल्बा) को भौंरे के समान शोभायमान केशों को जन्म देने के कारण यह नाम दिया गया। केशरंजन केशराज, भाँगरा व केसुरिया अन्य नाम हैं । सफेद भृंगराज सफेद फूलों के कारण कहलाता है, एवम् केश रोगों में वही मान्यता प्राप्त है । नीला या कालापन लिए व पीले फूलों वाली दो अन्य जातियाँ भी हैं । जिनके अन्यान्य प्रयोग हैं ।यह १०-१२ उँगली ऊँचा एक छोटा पौधा है, जो नदी-नालों के किनारे सब ओर पाया जाता है । वर्षा में पुष्प व हेमन्त में फल लगते हैं । काले कालिमा लिए पत्रों में छोटे-छोटे पुष्प लगे होते हैं, जो गोलाकार घटी के आकार के होते हैं । चिकित्सा हेतु मूलत: पञ्चांग व बीज प्रयुक्त होते हैं ।

ताजा स्वरस १ से २ चम्मच की मात्रा में प्रयोग किया जाता है ।भृंगराज तेल, भृङ्गराजघृत विशिष्ट योग है ।

इसमें एम्लीप्टीन नामक एल्केलाइड प्रचुर मात्रा में होता है । बाह्योपचार हेतु त्वचा व रोम-कूपों के लिए सर्वश्रेष्ठ औषधि है । कफ वातशामक, लीवर के लिए उत्तेजक व रक्तवर्धक होने के नाते यह कायाकल्प योग में भी प्रयुक्त होता है । बीज बाजीकरण योग हेतु (जीवनी शक्ति एवम् शारीरिक क्षमता बढ़ाने हेतु) प्रयुक्त होते हैं । इसी कारण यह एक रसायन भी है । त्वचा व केशों सम्बन्धी रोगों के लिए यह न केवल बाह्य प्रयोग रूप में, अपितु बालों का झड़ना, गिरना, सफेद होना, जगह-जगह पैच रूप में गुच्छे गिरते रहना इत्यादि में भृंगराज के पंचांग का ताजा स्वरस मुख द्वारा सेवन किया जाना चाहिए । यह त्वचा का रंग भी सामान्य बनाता है एवम् किसी भी प्रकार के संक्रमण को रोकता है । कोढ़, खुजली, पित्त आदि में भी यह ताजा या चूर्ण के लेप रूप में प्रयुक्त होता है । इसके स्वरस को या इसे उबालना नहीं चाहिए । उससे इसके गुण-धर्म नष्ट हो जाते हैं । सिद्ध तेल स्वयं बनाया जाय, तो सफेद बालों को काला करने की क्षमता रखता है । मुखमार्ग से इसका सेवन भी केशरंजन की भूमिका निभाता है ।

(स) त्वचा सम्बन्धी विकारों की चिकित्सा:- त्वचा लगभग दो वर्गमीटर का क्षेत्रफल घेरे सारे शरीर को अपने आवरण से ढँकती है । इससे सम्बन्धित रोग कई प्रकार के हैं- यथा सफेद दाग (ल्यूकोडर्मा) कुष्ठ, एक्जीमेटसडर्मैटाइटिस, एटोपिक डर्मेटाइटिस, अर्टीकेरिया (पित्ती) व्रण इत्यादि । अन्यान्य उपचार पद्धतियों की चर्चा तो अन्यत्र की गई है, यहाँ श्वेत धब्बे तथा कोढ़ की चिकित्सा की चर्चा की जा रही है, जो कि सर्वाधिक मानसिक संत्रास देने वाली एवम् अधिक पायी जाने वाली व्याधियाँ हैं ।

क्र० (४) बाकुची (सोरेलिया कोरिलीफोकिया) त्वचा सम्बन्धी विकारों को दूर करने के लिए निर्धारित औषधि हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि सफेद दाग कुष्ठ रोग के नहीं होते। एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है एवम् इससे पढ़े-लिखे व्यक्ति भी ग्रसित देखे जाते हैं। त्वचा का स्थान-स्थान पर अपने वर्ण छोड़ कर सफेद हो जाना, उसमें पाये जाने वाले पिगमेन्ट मेलेनिन के अभाव के कारण होता है। यह किसी भी संस्थानिक रोग से हो सकता है। यहाँ तक कि पेट में पाये जाने वाले कृमि भी इसका कारण हो सकते हैं। इसलिए इसके सम्बन्ध में विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कुष्ठ रोग आरम्भ में पहचान में नहीं आता। बहुसंख्य व्यक्ति यह भी नहीं जानते कि यह रोग अब असाध्य नहीं रहा। इसकी चिकित्सा सम्भव है। घिसी-पिटी पुरानी मान्यतायें ही समाज में घर किये हुए हैं। इसे छूत का रोग कह कर रोगी से सहानुभूति न रखकर, सही परामर्श देने के स्थान पर सर्वसाधारण को उनके प्रति उपेक्षा वरतते ही देखा जाता है। इसे प्रारम्भ से ही पहचान लिया जाय, इसके लिए कुछ लक्षण सभी को जानना जरूरी हैं। ये होते हैं- एक या उससे अधिक चमकीले व वर्ण रहित कुछ उठे हुए त्वचा पर चकत्ते, जिन पर गर्म, ठण्डा, चुभन आदि कोई संवेदन अनुभव नहीं होता। कभी-कभी एक ऐसा घाव "जिसके बारे में रोगी को कुछ नहीं मालूम होता" ही रोग का पता बताता है। संवेदना शून्य होने के कारण ऐसे त्वचा के हिस्से या तो जल जाते हैं या कट जाते हैं व रोगी को दर्द न अनुभव होने के कारण, अक्सर वह चिकित्सक के पास देरी से आता है। भौं के बाल समाप्त हो जाना, आस-पास के क्षेत्र से अधिक चमकीले धब्बे स्थान-स्थान पर पाया जाना लेप्रोमेटस लेप्रोसी के महत्त्वपूर्ण चिह्न हैं।

बाकुची जिसे कृष्णफला लावची एवम्-कुष्ठघ्नी नाम भी दिये गये हैं, दोनों ही प्रकार के चर्म रोगों की सर्वश्रेष्ठ औषधि है। इसका वर्षायु क्षुप छोटा लगभग तीन फुट ऊँचा होता है। इस पर बैंगनी रंग के पुष्प गुच्छों में बरसात में लगते हैं एवम् कृष्ण वर्ण के कुछ दुर्गन्ध वाले फल नवम्बर, दिसम्बर में लगते हैं। प्रत्येक फल के भीतर एक चिकना बीज- फल की दीवार से चिपका पाया जाता है। इस बीज का चूर्ण व

तेल ही प्रयुक्त होता है। यह क्षुप सारे भारत में विशेषकर गुजरात, राजस्थान, पंजाब के पश्चिमी हिस्से में पाया जाता है।

बीजों के तेल में "जो गाढ़ा व तीता होता है" बाकुचीयॉल नामक एक फिनॉल पाया जाता है। प्सोरेलेन एवम् प्सोरेडीन नामक सक्रिय संघटक भी इसमें होते हैं। यही चिकित्सा में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। त्वचा पर इनका प्रभाव स्वेदजनक व कुष्ठघ्न होता है। त्वचा व उसकी लेश्मा-अंतः झिल्ली पर तेल बड़ा तीव्र प्रभाव डालता है। श्वेत दाग लाल हो जाते हैं, कभी-कभी फोड़े भी हो जाते हैं। घाव भरने पर सामान्य रंग वापस आ जाता है। त्वचा के वर्णोत्पादक कोषाणु इसके कारण उत्तेजित होते हैं एवम् उपस्थित रोगाणुओं को नष्टकर सामान्य रंग वापस ले आते हैं। यह बाह्य प्रयोग के साथ-साथ बीज के चूर्ण रूप में १/४ से १/२ चम्मच (१ से ३ ग्राम) की मात्रा में मुख से दिया जाता है। ल्यूकोडर्मा व कुष्ठ को यह अपनी कफ- वातशामक उष्ण क्रिया द्वारा तुरन्त ही नष्ट कर डालता है। त्वचा के संक्रामक व्रण (एब्सेस, बॉइल्स कार्बन्कल) पर भी इसका रोगाणुनाशक प्रभाव है। इसके तेल का लेप लगाते हैं या चूर्ण को उस स्थान पर किसी भी स्निग्ध पदार्थ को मिलाकर लेप करते हैं। तेल का प्रभाव तीव्र होने के कारण सीमित मात्रा में ही उसका प्रयोग होता है। बाकुची के बीज सेवन के पूर्व ताजा अदरक के रस में एक सप्ताह तक रख कर शोधित कर लिया जाना चाहिए।

(द) मस्तिष्क व मनः संस्थान रोगों की चिकित्साः- हमारी काया का संचालन तंत्र, एक विलक्षण कम्प्यूटर - हमारा मस्तिष्क है। इसके रुग्ण होते ही सारे क्रिया- कलाप अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। शरीर रोग उतनी अधिक हानि नहीं पहुँचाते, जितनी कि मनः संस्थान के रोग। मस्तिष्क के स्थूल- अंगपरक रोग आर्गेनिक कहलाते हैं, व सूक्ष्म क्रिया- सम्बन्धी मनोविकार जिनकी मात्र प्रक्रिया दिखाई देती है, रोग का कोई प्रत्यक्ष रूप कहीं बैठा नहीं दिखाई देता, फंक्शनल या सायकिएट्रिक रोग कहलाते हैं। एक में व्यक्ति से सम्बन्धित रोग आते हैं, दूसरे में व्यक्तित्व सम्बन्धी।

मस्तिष्क से जुड़े रोगों में अल्पमन्दता- मानसिक विकास का रुक जाना (सेरीब्रल पाल्सी), मिर्गी व कम्पन रोग, मस्तिष्कीय रक्त स्राव ब्रेनट्यूमर्स, मेनिन्जाइटिस, एनसेफेलाइटिस, मल्टीपलस्क्लेरोसिस, मेटाबॉलिक ब्रेन डिसआर्डर्स, डेफीशिएन्सी डिसआर्डर्स, क्रेनियल एवम् पेरोतेरल न्यूराईटिस आदि सुपरिचित रोग हैं ।

इसके विपरीत मनः संस्थान से जुड़े रोगों में दो प्रकार के मनो-विकार आते हैं । एक माइनर जिसमें पूर्ण रूप में व्यक्तित्व विभाजित नहीं होता । इनको पर्सनालिटी डिसआर्डर्स एवम् विक्षिप्तता (न्यूरोसिस) दो वर्गों में बाँटा जाता है । आक्रामक वृत्ति, अतिकामुकता, समाज विरोधी वृत्ति इसी समूह में आते है । दूसरे मेजर या बृहत् मनोविकार, जिनमें रोगी का सारा व्यक्तित्व ही रोगी हो जाता है । ये रोगी हमेशा स्वयं को सही व दूसरों को गलत मानते हैं । इनके दो वर्ग हैं- भावनात्मक विक्षोभ (अफेक्टिव डिसआर्डर्स) एवम् वैचारिक विक्षोभ (स्क्रीजोक्रेंनिया) पहले में मेनिया व डिप्रेशन ये दो मनोविकार आते हैं । आज इनकी ही बहुतायत है, जबकि स्क्रीजोक्रेंनिया में आत्महत्या की प्रवृत्ति, विचार प्रवाहों का भटकना एवम् पागलपन के लगभग पूरे चिह्न दिखाई देना, ये लक्षण पाये जाते हैं ।

इन सभी रोगों की चिकित्सा हेतु गायत्री तीर्थ द्वारा निर्धारित तीन वनौषधियाँ हैं- ब्राह्मी, जटामांसी, वचा । अन्यान्य योगाभ्यास की प्राणायाम की पद्धतियों के अलावा इन वनौषधियों को दिये जाने पर ये अपना चमत्कारी लाभ दिखाती हैं । विशेष रूप से मनः संस्थान सम्बन्धी रोगों- मनोविकारों में इनकी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है ।

क्र० ५ ब्राह्मी :- बुद्धिवर्धक होने के कारण इसे यह नाम दिया गया है । इसके अन्य नाम हैं- ऐन्द्री, नीर ब्राह्मी, वरभी एवं "बकोपा मोनिएरा" या "हरपेस्टिस मोनिएरा" । एक जैसी दिखते हुए भी गुण-धर्म व कर्म में ब्राह्मी व मण्डूकपर्णी भिन्न-भिन्न हैं । छोटे क्षुप के रूप में यह उत्तरी भारत में गंगा के किनारे पर बारहों माह हरी पाई जाती है । नीले श्वेत पुष्प ग्रीष्म ऋतु में व फल बरसात में लगते हैं ।सारा पंचांग ताजे

कल्क रूप में या सुखाकर चूर्ण रूप में प्रयुक्त होता है। इसका क्षुप तीखा थोड़ा कड़वापन लिए होता है। उत्तरी भारत के अलावा यह सारे भारत में पानी से लगी भूमि में बिखरी पाई जा सकती है। इसमें ब्रह्मीन, हरपेस्टीन नामक दो मुख्य एल्केलायड पाये जाते हैं।

ब्राह्मी को मेध्य-मेधावर्धक एवम् मानव रोगों की एक अचूक औषधि माना गया है। इसे एक प्रकार का "नर्व टॉनिक" भी माना गया है। मस्तिष्क विकृति, नाड़ी संस्थान की दुर्बलता, मस्तिष्क की रक्त वाही नलिकाओं में थक्के जमने या रक्त स्राव होने की संभावना (सेरिब्राबास्कुलर डिसीज) की स्थिति में मिर्गी, उन्माद एवं एम्नेजिया (स्मृति का समाप्त होना) में इसका प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है। चिन्ता, अवसाद, घबराहट, एन्क्जाइटी न्यूरोसिस, हिस्टीरिया जैसे मनोविकारों या मनोशारीरिक रोगों में भी इसके एक सप्ताह के सेवन से लाभ होने लगता है। जिनका दर्द यदि किसी आन्तरिक कारण से है, तो वह ब्राह्मी सेवन व ब्राह्मी सिद्ध तेल के प्रयोग से ठीक हो जाता है। वस्तुतः ब्राह्मी के घटक स्नायुकोषों को उत्तेजित करते, मस्तिष्क में प्रचुर मात्रा में रक्त पहुँचाते एवं सीधे हाइपोथेलेमस सिस्टम पर प्रभाव डालते हैं। इसी नाते यह मनोविकारों एवं ज्वर में भी लाभकारी है। साधना में ब्राह्मी प्रयोग से एकाग्रता बढ़ती है एवं मनोवांछित सफलता मिलती है। वैज्ञानिक प्रयोग भी प्रमाणित करते हैं कि ब्राह्मी संघटक, न्यूरोकेमिकल्स के स्राव को बढ़ाकर मस्तिष्कीय कार्य में वृद्धि करते हैं।

ताजा स्वरस डेढ़ से ढाई चम्मच तक एवं पंचांग चूर्ण ४ से ५ ग्राम तक प्रयोग करते हैं। अन्य औषधियों यथा अमृता, जटामांसी, गिलोय, अश्वगंधा, ज्योतिष्मती आदि में से किसी एक या अधिक के साथ मिलकर यह विशेष प्रभावकारी हो जाती है। इसका अनुपान मधु, दुग्ध, जल या मिश्री हो सकता है।

यह सरस्वती पंचक का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। (अन्य घटक हैं- यष्टिमधु, शतावर, बच एवं जटामांसी।)

क्र० ६. जटामांसी को भूतजय, तपस्विनी, सुलोमशा, बालछड़

(नार्डोस्टीकस जटामांसी) भी कहते हैं। यह एक ४ से २४ इंच लम्बे काण्ड वाला बहुवर्षायु क्षुप है, जो हिमालय में काफी ऊँचाई पर ११ से १६ हजार की ऊँचाई पर पाया जाता है। गुलाबी या नीले फूलों के गुच्छे काण्ड पर लगे होते हैं, जो बाद में सफेद बालों से ढँके फल बन जाते हैं। मूसल (जड़) गहरे भूरे पत्र समूह से ढँका होता है व यही औषधीय प्रयोजन हेतु काम आता है।

इसका मुख्य कार्यकारी संघटक एक उड़नशील तेल है, जो मूल में पाया जाता है। इसके अलावा एल्केलाइड के रूप में जटामांसिन एवं जटामांसोन भी सक्रिय रूप में पाये जाते हैं।

यह तीनों दोषों वात, पित्त, कफ का शमन करता है एवं इसी कारण सन्निपात (डेलीरियल) में चाहे वह किसी भी कारण से हो, प्रयुक्त होता है। २ से ४ ग्राम की मात्रा में मूल चूर्ण अथवा ५० मिली लीटर पानी में गरम कर दिया गया क्वाथ १० ग्राम की मात्रा में तुरन्त लाभ पहुँचाता है।

मस्तिष्कीय क्षमता को यह बढ़ाता है। स्मृति क्षीण पड़ने, सिर दर्द (असाध्य), अनिद्रा में अत्यन्त लाभकारी है। मिर्गी, एजीटेविट सायकोसिस, मेनिअक सायकोसिस, सनक, हिस्टीरिया में लिया जाने पर अत्यन्त शीघ्र आराम पहुँचाता है। मस्तिष्क से निकलने वाली नाड़ियों की दुर्बलता यह मिटाता है, किसी भी प्रकार के न्यूरेल्जिया के दर्द को जड़ से मिटाता है एवं सभी प्रकार के भावनात्मक संक्षोभों, उद्वेगों के शामक की भूमिका निभाता है। इनका हानिरहित, एडीक्शन रहित प्रभाव सभी हिप्नोटिक, सिडेटिव, एन्टीडिप्रेसेण्ट से बढ़कर है। कम्पन रोगों में भी यह लाभकारी है। बच एवं ब्राह्मी के साथ मिलाने पर इसकी मेध्य उपयोगिता बढ़ जाती है।अपने हृदय पर दबाव कम करने वाली तथा गुर्दों पर मूत्रल प्रभाव वाली क्षमता के कारण यह स्ट्रेस (मानसिक तनाव) जन्य रक्त भाराधिक्य (हाईब्लडप्रेशर) को कम करता है एवं किसी प्रकार के मस्तिष्क पर अहितकर प्रभाव की संभावना कम करता है।योग साधना में भी ऋषिकाल से तन्मयता बढ़ाने में इसका प्रयोग होता आया है।

बाजीकरण गुण होने से यह काम दुर्बलता को मिटाता व जनरल टॉनिक की भूमिका निभाता है ।रक्षोघ्नघृत, सर्वौषधिस्नान, मांस्यादि क्वाथ इत्यादि इसके विशिष्ट योग हैं, पर प्रयोग मूल चूर्ण का ही अधिकतर होता है ।

क्र० ७. वचा (एकोरस केलेनस) वचा शक्ति वर्धक होने से इसे बचा, उग्रगंधा, घोड़बच, मीठी बच नाम प्राप्त है । यह ५ फुट ऊँचा सदा हरा बना रहने वाला क्षुप है, जिसका कन्द भूमि में अदरक के समान फैलता है व सुगन्ध युक्त होता है । पत्ते ३ से ६ इन्च लम्बे होते हैं । पुष्प मञ्जरी ६ से ३० इंच लम्बे हरे पत्तों से-पत्र कोषों से ढँकी होती हैं ।यह क्षुप जल के समीप वाली भूमि में विशेषकर तालाब व झरनों के किनारे पाया जाता है ।१ से ६००० फुट की ऊँचाई तक यह वन्य रूप में भारत भर में पायी जाती है ।औषधीय प्रयोजन हेतु मूल एवम् भूमि में स्थित काण्ड ही प्रयुक्त होता है ।जड़ के छिलके में उड़नशील तेल अच्छी मात्रा में होता है । एमेरॉन कोरिन, पूजीनॉल आदि एल्केलाइड इसमें होते हैं ।

यह कफ, वात शामक एवम् एक उत्तम मेधावर्धक औषधि है । बेहोशी कॉमा, सेरीब्रोवास्कुलर डिसिज, ट्रॉंजीएण्ट इस्चीमिक अटैक आदि में यह रक्तवाही नलिकाओं को फैलाकर मस्तिष्कीय रक्त प्रवाह बढ़ाती है। चेतन संस्थान को, रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम को उत्तेजित कर जागृत करती है । बहुत अच्छी दर्दनाशक, कम्पन, वात, मिर्गी के दौरे को मिटाने वाली औषधि है । चिन्ता, तनाव, बेचैनी, उद्वेग, साइको सोमेटिक एलमेन्टा में इसका प्रयोग करते हैं ।उन्माद, साइकोसिस, मेनिया में इसकी शामक भूमिका है। यह नाड़ी दुर्बलता को मिटाती है व न्यूराइटिस, न्यूरेल्जिया में अत्यन्त लाभकारी है। पक्षाघात मे यह रिकव्हरी पीरियड कम कर जल्दी ही स्नायुओं को बल प्रदान करती है ।यह श्वास रोग, लेरिंजाइटिस की बड़ी उत्तम औषधि है। तुतलाने-हकलाने के जन्मजात रोगी की वाक्शक्ति यह ठीक कर देती है ।

औषधि हेतु इसकी मात्रा ०.५ से २ ग्राम तक चूर्ण या २५ से

५० सी० सी० क्वाथ है । सारस्वत चूर्ण, मेध्य रसायन इसके विशिष्ट योग हैं । ब्राह्मी व जटामांसी को मिलाकर यह समस्त मनोविकारों व मनोंरोगों में यह श्रेष्ठ सम्मिश्रण औषधि के रूप में कार्य करती है ।

(य) नाड़ी संस्थानगत दोषों की चिकित्सा :- नाड़ी संस्थान से तात्पर्य है मस्तिष्क से निकलने वाली १२ क्रेंनियल नर्व्स एवम् सुषुम्ना से निकलने वाले नाड़ी गुच्छक, जो गर्दन व पेडू में क्रमश: सर्वाइकल, क्रैनियल व पेल्विक प्लेक्सस बनाते हैं । इसके अतिरिक्त स्वचालित अनैच्छिक (आटोनॉमिक) नरवस सिस्टम भी इसके अन्तर्गत आता है । वक्ष, पेट के अंदरूनी महत्त्वपूर्ण अवयव एवम् हाथ, पैर, सिर व चेहरे को ये स्नायु संवेदना प्रदान करती हैं ।मांस पेशियों का स्वचालित संचालन भी इसी माध्यम से होता है । इसमें किसी प्रकार का रोग होने से स्थानीय या बड़े स्तर पर पक्षाघात हो सकता है, मांस पेशियाँ सिकुड़कर छोटी हो सकती हैं अथवा दर्द की संवेदनशीलता बढ़ सकती है । संवेदन तन्तु के निष्क्रिय हो जाने पर स्पर्श, दर्द, ताप, कम्पन आदि कोई भी संवेदना अनुभव नहीं होती । इस कारण मस्तिष्क उस अंग विशेष के संचालन में असमर्थ रहता है ।

क्र० ८. ज्योतिष्मती (मालकंगनी सिलेस्ट्रस) पैनीकुलेटस इसके लिये सर्वश्रेष्ठ औषधि है । इसे मेध्य व उष्ण होने के कारण ज्योष्मिती एवं उत्साहवर्धक होने के नाते वेग नाम दिया गया है ।अन्य नाम हैं - पीत तैला, काकाण्डकी इत्यादि । यह वस्तुत: एक लता रूप में होती है । शाखाओं पर सफेद धब्बे होते हैं । गर्मी में पीले हरे पुष्प व मटर के समान केसरी रंग के फल होते हैं । अक्टूबर से जनवरी के बीच यह पक कर तैयार होते हैं । यह सारे भारत में, समुद्र तट से ३००० फीट तक की ऊँचाई पर पैदा होती है ।

बीजों का चूर्ण अथवा तेल प्रयुक्त होता है ।यह तेल काफी गाढ़ा, तीखा, गन्धयुक्त, कत्थई रंग का होता है । इसके अतिरिक्त बीजों में सिलेस्ट्रीन व पनीकुलेटीन नामक पदार्थ भी होते हैं ।

ज्योतिष्मती वात, कफ, शामक एवं समग्र कायाकल्प के लिये

प्रसिद्ध, नाड़ी संस्थान को बल देने वाली एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण औषधि है। यह मस्तिष्क की समस्त नाड़ियों का पोषण करती एवं किसी प्रकार की पोषक कमी से, संभावित व्याधि से बचाती है। यह एक दर्द नाशक वनौषधि है, जिसे बड़ी सफलता से पक्षाघात, सीयाटिका, न्यूराइटिस, न्यूरेल्जिया, सर्वाइकल स्पइन्डोलॉसिस, बम्बेगो आदि में शीघ्र लाभ के लिये बड़ी सफलता से प्रयुक्त किया जा रहा है। वैसे तो इसका तेल ही अत्यधिक मात्रा में प्रयोग होता है; किन्तु पत्र का स्वरस किसी भी प्रकार की मादक औषधि के दुष्प्रभावों को तुरन्त मिटा देता है। विटामिन बी - १२ की कमी से मस्तिष्क, नाड़ी संस्थान एवं शरीर के अन्य अंगों में जो विकार पैदा होते हैं, इन्हें यह औषधि दूर करती है। यह स्मरण शक्ति बढ़ाती है एवं उत्तेजनाजन्य मनोविकारों में शामक प्रभाव डालती है।हृदय के लिये उत्तेजक है। लोब्लडप्रेसर, ब्रेडीकार्डिया, हार्टब्लॉक में लाभकारी है। इसके प्रभावों का कारण नर्वसिनेप्सों पर स्राव उत्सर्जन के बढ़ाने के रूप में माना जाता है। यह बाजीकरण के लिए एक सुप्रसिद्ध औषधि है। बीज चूर्ण १-३ ग्राम की मात्रा जल में अथवा तेल ५ बूँद से ८ बूँद बतासे में डालकर या मिश्री के साथ प्रयुक्त होता है। नाक से सूँघने पर भी शिरोरोगों में लाभकारी है।

(२) संधि, मांस पेशियों के विकारों की चिकित्सा - संधियों पर ही शरीर का भार टिका हुआ है। शरीर के लिए सर्वाधिक कष्टकारी रोग संधियों के ही होते हैं।जब चलना तक दूभर हो जाता है। जोड़ों में लुब्रीकेण्ट की भूमिका निभाने वाला साइनोवियल फ्ल्यूड कम होने या उनमें संक्रमण होने पर संधि शोथ हो जाता है।रूमेटिक आब्राइटिस, रूमेटाइड आर्थ्राइटिस, आथ्रेल्जिया, डिस्क कम्प्रेशन आदि रोग इसी वर्ग में होते हैं। इन्हीं से जुड़ी हैं आभ्यन्तर नाड़ियाँ एवं मांसपेशियाँ, जो कहीं भी दबाव होने की स्थिति में कार्यक्षमता खो बैठती हैं। नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान की संरचना करने वाले लेक्सस संधियों से सटे रहते हैं। इनकी सूजन व इनमें इन्फेक्शन हर तरह से कष्टकारी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है। कौलेजन डिसआर्डर्स, गठिया आदि

सभी रोग इसी समूह में आते हैं ।इसके लिए प्रमुख औषधियाँ हैं - निर्गुण्डी, रास्ना, सुण्ठी ।

क्र० ९. निर्गुण्डी- निर्गुण्डी की, संधि मांसपेशियों के विकार जैसे रोगों से शरीर की रक्षा करने के कारण "निर्गुण्डति शरीरम्" यह नाम दिया गया है ।इसे वायटेक्स निर्गुण्डी, सम्हालू, मेऊड़ी, नगोड़ नामों से भी जाना जाता है ।यह एक गुल्म है, जो वन्य रूप में सारे भारतवर्ष में पाया जाता है । सारे गुल्म पर सूक्ष्म रोम होते हैं । फल छोटे बैंगनी आभा लिए मार्च-अप्रैल में, २ से ८ इंच लम्बी मंजरियों में प्रकट होते हैं । वर्षा काल के आस-पास पकने पर छोटे, गोल फल बन जाते हैं, जो काली मिर्च जैसे दिखते हैं । औषधीय प्रयोजन हेतु बीज, पत्ते व जड़ प्रयुक्त होते हैं । किसी प्रकार की संधि, मांसपेशी से जुड़ी सूजन अथवा वेदना में पत्तों का स्वरस अथवा फूल व पत्तों का काढ़ा दिये जाने पर तुरन्त लाभ पहुँचाता है । यह औषधि कफ-वात शामक है । अन्तः कोशीय स्तर पर इसका शोथ हरने वाला (एण्टी इनफ्लेमेटरी) प्रभाव है । जोड़ों की किसी भी कारण से सूजन, चोट लगने, मांसपेशियों में रक्त स्राव होने, मांसपेशियों की थकान की स्थिति में नाड़ी मण्डल को उत्तेजित करने के कारण इसका लाभप्रद प्रभाव होता है । स्थानीय रूप से ताजे पत्तों का स्निग्ध लेप भी किया जाता है ।

इसकी पत्तियों में हल्के पीले रंग का तेल तथा निशण्डीन एवं हाइड्रोकार्टीलान नामक एंल्केलाइड पाये गए हैं । पत्र स्वरस यदि प्रयुक्त होना हो, तो मात्रा २ से ४ चम्मच, मूल की छाल का चूर्ण आधा चम्मच एवं बीज का चूर्ण १/२ से १ चम्मच शहद के साथ लेने का प्रावधान है ।ताजा स्वरस व ताजी पत्तियों का लेप अधिक लाभकारी होता है । सिर दर्द, शोथ आदि सभी रोगों में पत्ते को गरम कर बाँधने या धूप देने से सूजन नष्ट होती व वेदना कम होती है । यह एक रसायन है । इस नाते समग्र शरीर की दुर्बलता में लाभ देता है ।

क्र० १० रास्ना - (प्लूचियालें सियोलेटा) जो रस आदि धातुओं को बढ़ाए, इस अर्थ के कारण इस नाम से जानी जाती है । इसे

युक्ता, सुगन्धा, रायसन, रूखड़ी नाम भी दिये गये हैं ।१ से ४ फीट ऊँचा इसका क्षुप झाड़ीदार होता है । श्वेत पीले रंग के पुष्प निकलते हैं एवं बहुधा यह उत्तर भारत, राजस्थान व गुजराज की बलुई मिट्टी में पाया जाता है ।

इसके पत्ते व पंचांग प्रयुक्त होते हैं। पत्तों में क्वेर्सिटीन, आइजौरैम्नेटिन नामक तत्त्व पाये गये हैं। यह-वात शामक द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ औषधि मानी गयी है । पत्रों का बाह्य लेप शोथ हर वेदनानाशक प्रभाव वाला है । आंतरिक प्रयोग शरीर में तुरन्त गर्मी लाता है । रास्नादि क्वाथ ५० से १०० मिली लीटर की मात्रा में सभी प्रकार की संधिशोथों, मांस पेशियों की सूजन, सभी वात जन्य विकारों में प्रयुक्त किया जाता है । शोथ ज्वर भी पसीना देकर तुरन्त उतर जाता है । यह विरेचक भी है, आम पाचक भी एवं उदरशूल में लाभकारी है । निर्गुण्डी या सुण्ठी के साथ दिया जाने पर यह रुमेटिक आर्थ्राइटिस एवं किसी भी प्रकार के आर्थ्रेल्जिया में अति शीघ्र लाभ पहुँचाता है । रास्नादिक्वाथ, रास्नादि तेल, रास्नादिघृत विशिष्ट योग है । सामान्यतया पत्रों का ताजा काढ़ा या चूर्ण ही प्रयुक्त होता है ।

११- सुण्ठी (जिंजीबर आफीसीनोल) सूखे अदरक का नाम है । इसे महौषधि, विश्व भैषज कहा गया है, क्योंकि यह सर्वोपलब्ध अनेक विकारों में प्रयुक्त होने वाली औषधि है ।सोंठ, सुंठ, ड्राइजिंजर अन्य इसके नाम हैं । बहुवर्षायु इसका क्षुप २ से ४ फुट ऊँचा होता है, जिस पर शरद में पुष्प आते हैं । कन्द सुगन्धित, बहुखण्डी, हल्का पीलापन लिए होता है । यही भौमिक काण्ड औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होता है । सारे भारत में यह पैदा होती है । छाया में त्वचा को बिना हटाए सुखाया गया कन्द औषधि रूप में प्रयुक्त होता है । इसे यथा संभव नमी से बचाया जाता है । इसमें से जो तेल निकलता है, उसमें जिंजीबरीन व जिंजीराल आदि तत्त्व होते हैं । ताजी अदरक सुखाने पर ८० प्रतिशत जल वाष्पीकृत हो जाता है । इस सूखी सौंठ में महत्त्वपूर्ण अमीनों अम्ल पाये जाते हैं ।

अपनी संरचना के कारण यह औषधि सब रोगों की औषधि

है। यह जीवनीशक्तिवर्धक, नाड़ी संस्थान के लिए उत्तेजक एवं वातशामक औषधि है। एन्जाइम्स की प्रचुरता के कारण यह कफ निस्तारक, रक्त शोधक तथा जीर्ण संधिशोथ हेतु एक श्रेष्ठ द्रव्य माना गया है।बाह्य प्रयोग में इसे पीसकर आम वात व संधिशोथ में लेपन करते हैं। अरुचि में इसे भोजन के पूर्व लेते हैं। सभी प्रकार के सामान्य एवं सन्निपात ज्वरों में इसका रस अनुपान के साथ दिया जाता है। अश्वगंधा व निर्गुण्डी के साथ यह आम वात में व बाजीकरण प्रयोजन हेतु दिया जाता है। आर्द्रक स्वरस ५ से १० मिलीलीटर तथा सुण्ठी चूर्ण १ से २ ग्राम की मात्रा में पान स्वरस या मधु के साथ लिया जाता है। हरिद्रा खण्ड, पञ्चसमचूर्ण, रास्नादि क्वाथ, सुण्ठीसुरा आदि विशिष्ट योगों में यह प्रयुक्त होता है।

(ल) हृदय एवं रक्तवाही संस्थान के रोगों की चिकित्सा-आधुनिक विकास के साथ सारे विश्व में इन रोगों का बाहुल्य है।हृदय को रक्त कम मिलने से वह दर्द से चीखता है।अधिक समय क्षेप हो जाने पर उसकी मांस पेशियाँ पोषण खोकर निष्क्रिय हो जाती हैं।पहली स्थिति एन्जइना पेक्टोरिस एवं दूसरी मायोकर्डियल इन्फॉक्शन कहलाती है। हृदय की व शरीर की धमनियों में थक्का जमते जाने से एथेरो क्लेरोसीस रोग जन्म लेता है, जो उच्च रक्त चाप को जन्म देता है। हृदय को पम्प करने में असफलता, उसके बाल्ब्स के कमजोर होने के कारण भी हो सकती है व धमनियों के रक्त न पहुँचा पाने की विवशता के कारण यह कार्डियकफैल्योर को जन्म देती है। हृदय की चाल में अनियमितता भी हो सकती है। साँस फूलना, पैरों में सूजन, छाती में दर्द, धड़कन बढ़ जाना, घबराहट, सभी हृदय रोगों के चिह्न हैं। इन सभी का विस्तृत विवरण यहाँ सम्भव नहीं, इनके लिए निर्धारित औषधियाँ हैं, पुनर्नवा, शंखपुष्पी, अर्जुन।

क्र० १२. श्वेत पुनर्नवा :- शरीर को पुनः नवीन बना देने के गुण के कारण इसे पुनर्नवा नाम दिया गया है। यह मूत्र विरेचनीय द्रव्य है। इसे "बोअरहेविया डिफ्यूजा," शोथहनी एवं गदहपूरना भी कहा गया

है ।२ से ६ फुट लम्बा इसका बहुवर्षायु क्षुप वर्षा में नये पौधे के रूप में विकसित होता है । फूल छोटे गुलाबी होते हैं । मूल स्थूल १ फुट लम्बा, मजबूत व श्वेत होता है । वर्षा में पुष्प फल रूप में परिणत हो जाते हैं । इसकी तीन जातियाँ हैं, पर औषधीय दृष्टिकोण से श्वेत पुनर्नवा को मान्यता प्राप्त है । यह सारे भारत में पाया जाता है । यह कम सुलभ है, अत: इसमें मिलावट बहुधा होती है । इसके मूल, बीज पंचांग को औषधि रूप में शरद ऋतु के बाद एकत्र कर शुष्क प्रयोग करते हैं । इसमें पुनर्नवीन नामक एल्केलाइड पाया गया है ।

यह कफ, वात, पित्तशामक तथा हृदय रोग में अत्यन्त लाभकारी औषधि है । इससे हृदय की संकुचन क्षमता बढ़ती है तथा कार्डियक आउटपुट में वृद्धि होती है । हृदय में रक्त कम पहुँचने अथवा पम्प के रूप में उसकी असफलता के कारण जो कार्डियक फैल्योर जन्म लेती है, उसके लिए यह श्रेष्ठ औषधि है । इस रोग के कारण उत्पन्न सूजन में इसके पत्रों का स्वरस तथा ताजा शाक भी खिलाते हैं । इनमें पोटेशियम नाइट्रेट प्रचुर मात्रा में होता है, जो हृदय की मांसपेशियों के लिए उत्तेजक है । पोटेशियम की रक्त में मात्रा यथावत् रख मूत्र मार्ग से अतिरिक्त जल को निकाल देना इसका एक विशिष्ट गुण है । इसका सीधा प्रभाव गुर्दों पर भी देखा गया है । इस प्रकार की शोथ के लिए यह एक अत्यन्त उत्तम औषधि है । अपीडेमिक ड्रांप्सी बेरी-बेरी, पीलिया लीवर के अन्य रोगों में यह अत्यन्त लाभकारी है । इस्चीमिक हार्टडिसीज के रोगियों को नियमित रूप से देने पर, पाया गया है कि हृदय की अनियमितता व रोग के भावी अटैक की संभावना इससे काफी सीमा तक मिट जाती है । इसी नाते यह श्वास रोग में प्रयुक्त भी होती हैं ।

इनका ताजा स्वरस २ से ४ चम्मच दिन में दो या तीन बार देते हैं ।मधु श्रेष्ठ अनुपान है । बीज का चूर्ण १से ३ ग्राम, पंचांग चूर्ण ५ से १० ग्राम, क्वाथ २ से ३ औंस की मात्रा में प्रयुक्त होता है ।

क्र० १३. शंखपुष्पी :- (कन्वाल्व्यूलस प्लूरीकांलिस) शंख के समान आकृति वाले श्वेत पुष्पों से होने के कारण इसे यह नाम प्राप्त

है। इसे मांगल्य कुसुम भी कहते हैं। शंखाहूलि एवं शांखाकलि, जन प्रचलित नाम हैं। श्वेत पुष्पों वाली शंखपुष्पी को ही औषधि की दृष्टि से वरीयता प्राप्त है। इसके क्षुप बहुवर्षीय होते हैं। जमीन पर रेंगते हैं एवं रोम युक्त २ से १२ इंच काण्ड युक्त होते हैं। शंख जैसे पुष्प मई से दिसम्बर तक लगते हैं एवं यही फल रूप में पक जाते हैं। यह सारे भारत में पथरीले व परती मैदानी इलाकों में पायी जाती है। इसके समग्र क्षुप का पंचांग चूर्ण रूप में, ताजी अवस्था में स्वरस रूप में प्रयुक्त होता है।

शंखपुष्पी का कार्यकारी घटक-शंखपुष्पीन नाम से प्रचलित है। सारी औषधि से एक उत्पत तैल निकाला जाता है, जो इसकी मेधावर्धक तथा हृदयशामक क्रिया से महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

यह त्रिदोष नाशक, मस्तिष्क के लिये तनाव मिटाने वाली औषधि है। यह हृदय एवं मस्तिष्क दोनों पर समान प्रभाव डालती है। इसका एसिटाइल कोलीन द्रव्य स्नायुरस बढ़ाकर उत्तेजना मिटाने वाला है, रक्त दबाव पर अनुकूल प्रभाव डालता और संक्षोभ जन्य, तनाव जन्य, रक्त भाराधिक्य को कम करता है। साइकोसोमेटिक विकारों को यह समाप्त करता है। अपने रक्त स्तम्भक प्रभाव के कारण यह रक्त वमन के लिये सर्वश्रेष्ठ औषधि है, चाहे वह हृदय रोगों के कारण हो अथवा फेफड़ों एवं पेट की व्याधि के कारण। ज्वर में उन्माद की अवस्था में यह एक शामक है। सामान्य दुर्बलता में इसका उपयोग बलवर्धक टॉनिक के रूप में किया जाता है।

२ चम्मच के लगभग ताजा स्वरस मधु के साथ दिन में २ बार देते हैं। आधे से एक चम्मच (३ से ५ ग्राम) चूर्ण दिन में दो बार देने पर अच्छी निद्रा लाता व मेधावर्धक, रक्त चाप नाशक सिद्ध होता है। मस्तिष्क की रक्तवाही नलिकाओं का तनाव जन्य संकुचन इससे मिटता है व मस्तिष्क के हर अंग अवयव तक रक्त पूरी मात्रा में पहुँचाता है। यह सरस्वती पंचक का एक घटक है। ब्राह्मी के साथ प्रयोग करने पर यह मूलतः मस्तिष्क पर तथा अर्जुन या पुनर्नवा के साथ प्रयोग करने पर यह

हृदय पर प्रभावकारी सिद्ध होता है । यह एक श्रेष्ठ मेध्य रसायन है ।

क्र० १४. अर्जुन :- (टर्मिनलिया अर्जुना) को धवल, वीरवृक्षा, नदी सर्ज एवं काहू या कहुआ, सादड़ों भी कहते हैं । यह एक सदा हरित नदी-नालों के किनारे सारे भारत में पाया जाने वाला ४५-५५ फुट ऊँचा वृक्ष है, जिसकी छाल बाहर से सफेद व चिकनी होती है । औषधीय प्रयोजन हेतु छाल ही प्रयुक्त होती है, अतः दो वर्षा ऋतुओं में उगने वाली छाल तीन साल के चक्र में एकत्र की जाती रहती है । फूल वसंत में आते हैं तथा सफेद या पीले मंजरियों में लगे होते हैं ।श्रावण मास में फल कमरख के समान होते हैं; शीतकाल तक पकते हैं । सही अर्जुन की पहचान यह है कि इसकी छाल अन्य पेड़ों की छाल की तुलना में कहीं अधिक मोटी तथा नरम एवं लाल रंग लिये होती है । इसकी छाल में अर्जुनिक एसिड, अर्जुनेटिन एवं बी साइटोस्टेरॉल नामक घटक पाये गये हैं ।अर्जुन की छाल को सुखाकर चूर्ण कर रूखे शीतल स्थान पर रखकर १ वर्ष तक प्रयोग किया जा सकता है ।

हृदय रोगों के लिये अर्जुन को अचूक औषधि माना गया है । यह हृदय शूल को मिटाता तथा हृदय की मांसपेशियों की शक्ति बढ़ाकर कार्डियक आउटपुट बढ़ाता है ।अर्जुन हृदय विश्राम को बढ़ाकर हृदय को मिलने वाले रक्त संरक्षण को बढ़ाता है । गुर्दों पर भी इसका प्रभाव मूत्रल है तथा रक्तवाही नलिकाओं में रक्त प्रवाह को बढ़ाता है ।यह प्रति रक्तस्तम्भक होने के नाते नलिकाओं में खून के थक्के जमने की प्रक्रिया को रोकता है ।अर्जुन उच्च रक्तचाप में लाभकारी है। हृदय की अनियमितता में भी एवं हृदय के कारण हुई कन्जेस्टिव फैल्योर में भी, अर्जुन से हृदय का स्पन्दन बढ़ता व सुनियोजित होता है । संभवतः कन्डक्शन टीश्यू के पेसमेकर पर इसका प्रभाव बढ़ता है । छाल का चूर्ण बासा पत्र स्वरस से भावित कर मिश्री के साथ प्रयुक्त होने पर जीर्ण खाँसी को दूर करता है । छाल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम दूध, मिश्री, मधु या घी के साथ दिन में २ या ३ बार प्रयुक्त होता है । छाल का क्वाथ डेढ़ से ३ औंस एवम् पत्र स्वरस लगभग [४ चाय का चम्मच] मात्रा में प्रयुक्त होता

है ।अर्जुन चूर्ण के अतिरिक्त अर्जुनारिष्ट, अर्जुनसिद्ध घृत भी प्रयोग किया जाता है ।

(ल) फेफड़े एवं ऊपरी श्वास संस्थान के रोगों की चिकित्सा :- इस संस्थान के रोगों में टांसिल्स की सूजन, पेरिजाइटिस, डिप्थीरिया, साइनोसाइटिस, एक्यूट व क्रानिक ब्रॉंकाइटिस, एम्फीजिमा [सी.ओ.पी.डी.] दमा [अस्थमा,] जीर्ण कास, ट्युबरकुलोसिस [टी.बी.] लंग एब्सेस तथा लंग का एडिनोमा [कैंसर] आते हैं । गलत ढंग से साँस लेना, सीना आगे की ओर झुका होना, धूलि कणों से लेकर पराग कणों तक विभिन्न प्रकार के डेढ़ सौ से अधिक घटकों से एलर्जी, दूषित नमी, सीलन युक्त वातावरण, धूम्र पान एवं छूत के रोगी [डिप्थीरिया, मिजल्स, टी.बी.] का सम्पर्क इन व्याधियों से किसी एक या मिश्रित रूप का कारण बनता है । फेफड़े अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग माने गये हैं, क्योंकि वहाँ रक्त व श्वास मार्ग से प्रवेश करने वाली शुद्ध ऑक्सीजन एवं प्रश्वास द्वारा छोड़ी जाने वाली कार्बन डायआक्साइड का आदान-प्रदान होता है । ऊपर से नीचे तक संस्थान में कोई भी व्यतिरेक आने से कई प्रकार की व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, जो रक्त में विजातीय द्रव्य बढ़ाती व सारी संचालन प्रक्रिया अस्त-व्यस्त कर देती है । आज की सबसे अधिक त्रस्त करने वाली बीमारियों में इनका नाम आता है । फेफड़ों श्वास संस्थान पर काम आने वाली कुछ निर्धारित औषधियाँ है-अडूसा [वासा] , भारंगी, कण्टकारि, शिरीष ।

क्र० १५.अडूसा (वासा) [एढेटोडा वेसाइका] सघन होने के कारण, स्थान को आच्छादित कर देने के कारण इसे वासक या वासा कहते हैं । अडूसो, वृष, वाजिदन्त इसके अन्य नाम हैं । यह एक झाड़ीदार ४-६ फुट ऊँचा क्षुप है । फूल सफेद रंग के २ से ३ इंच लम्बी मंजरियों से लगे रहते हैं, जो फरवरी-मार्च में पुष्पित होते हैं । ४ बीज वाली फली शीघ्र ही पक कर तैयार हो जाती है । यह वन्य रूप में सारे भारत में पाया जाता है । इसके ताजे फलों का स्वरस, सूखे पत्तों का चूर्ण, मूल की छाल का चूर्ण व फूल प्रयुक्त होते हैं । इसके पत्रों में एक तिक्त

एल्केलाइड वासिकिन तथा एढेटोडिक एसिड व उत्पत तेल प्रचुर मात्रा में पाये गये हैं।

वासा कफ निस्तारक एवं नाशक है। इसकी प्रमुख क्रिया श्वसन संस्थान पर ही होती है। श्वास नलियों को चौड़ा कर यह कफ को बाहर निकालता है। यह ब्रोंकोडा इलेटेशन थोड़ा ही होता है, पर स्थायी होता है। श्लेष्म को जमने नहीं देता। वेगयुक्त खाँसी, रक्त के साथ कफ निकलने पर यह श्रेष्ठ औषधि है। एक्यूट ब्रोंकाइटिस, एलर्जीक ब्रोंकाइटिस, क्षयरोग, लंगएब्सेस में बड़ी सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया है। पत्तियों का तेल श्वास संस्थान के हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट करता है। वासा दमे के वेग में तुरन्त लाभ पहुँचाता है।पत्तियों के चूर्ण में थोड़ी धतूरे की पत्ती मिलाकर धूम्रपान करने से श्वास रोग शान्त होता है। वह कुकुरखाँसी, साइनोसाइटिस व ब्रोंकोन्यूमोनिया में भी प्रयुक्त होता है।

पत्र स्वरस [ताजा] २ से ४ चम्मच, मूल क्वाथ १ से २ औंस तक तथा पंचांग चूर्ण १० से २० ग्राम तक प्रयुक्त होता है। कभी ताजे पत्र न मिल सकें, तो छाया में सुखाये फूलों का चूर्ण मधु के साथ लाभ करता है। वासा के फूलों का गुलकन्द भी बनाया जाता है।'वासावलेह', 'वांसाँरिष्ट', वासापानक आदि विशिष्ट योग हैं।

क्र० १६- भारंगी (क्लेरोडेन्ड्रान्सेरेटम) - इसे ब्राह्मण यष्टिका, खरशाकू (रुखे पत्तों से युक्त), पद्मा एवम् बभनैटी, ग्रामीण भाषा में कहते हैं। यह २ से ६ फुट ऊँचा एक बहुवर्षीय झाड़ीदार क्षुप है। पत्तियाँ ३ से ६ इंच लम्बी नोकदार होती हैं। नीले-श्वेत सुगन्धित पुष्प अप्रैल से सितम्बर तक व उसके बाद फल आते हैं।ग्रंथि युक्त जड़ को ही प्रयोग करते हैं। यह हिमालय की तराई में पूर्व से पश्चिम तक ४००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

मूल की त्वचा में पैनीटॉल एवं ग्लायकोसाइड्स पाये गये हैं। विभिन्न प्रकार के सक्रिय सान्द्र अम्ल इसमें होते हैं। यह एक कफ वात शामक औषधि है, जिसमें हिस्टेमिन प्रतिरोधी (एण्टी एलर्जिक) गुण युक्त

होते हैं । श्वास रोगों में यह अत्यन्त लाभकारी है । फेफड़ों में जमा श्लेष्मा को मिटाकर यह दमे के वेग को शान्त करती तथा क्रानिक ब्राँकाइटिस एवं अन्य श्लेष्म स्रावी श्वास संस्थान के रोगों में लाभ पहुँचाती है । छाल का सत्त्व फेफड़ों के हिस्टामिन उत्सर्जित करता है ।रक्त में जीवाणुरोधी मास्टसेल्स एवं एण्टीबॉडीज बढ़ती है व एलर्जी के प्रति रेजिस्टेन्स बनता है । मूल का स्वरस अदरक के स्वरस में मिलाकर देने से श्वास वेग तुरन्त शान्त होता है ।३ से ६ ग्राम की मात्रा दिन में २ या ३ बार देते हैं । सूखी खाँसी में दही के साथ, श्वांस रोग में शहद के साथ तथा बलगमयुक्त खाँसी में अदरक स्वरस के साथ देते हैं । फेफड़ों के व्रण युक्त ज्वरों में यह एक एण्टीबायोटिक के रूप में काम करती है ।

क्र०- १७ कंटकारि (सोलेनमसुरोटेन्स) कंटकों से युक्त होने के कारण कण्टकारि कहलाती है । अन्य नाम हैं- छोटी कटेरी, भटकटैया, दु:स्पर्श एवम् रेंगनी । बहुवर्षायु कण्टकित, रेंगने वाला क्षुप एक से चार फीट व्यास का वह हरे रंग का होता है । आधा इंच लम्बे काँटे होते हैं । ४ इंच लम्बे खण्डित पत्ते, नीले रंग के फूल व गोलाकार पीले फल इसकी विशेषता है । दिसम्बर से जून तक पुष्प व फल आते हैं । मूलत: नील पुष्प प्रजाति ही प्रयुक्त होती है । जो वन्य रूप में समस्त भारत में पायी जाती है ।

इसका पंचांग ही प्रयुक्त होता है एवं इसमें डायोस्जेनिन नामक घटक पाया गया है । फलों में सोलेसोनिन एवं बीजों में एक उत्पत तेल होता है । यह एक कफ, वात, शामक औषधि है, जो कि अपनी मूल क्रिया फेफड़ों से हिस्टामिन उत्सर्जन के रूप में दर्शाती है । बच्चों की क्रानिक ब्राँकाइटिस, लेरिंनजाइटिस, स्वर, भेद, हिचकी, श्वास रोग, एलर्जिक ब्राँकाइटिस के लिये इसे प्रयुक्त किया जाता है । यह कफघ्न है, वह श्वास नलिकाओं को चौड़ा करती है । इसका हृदय पर भी शोक मिटाने वाला, रक्त चाप कम करने वाला तथा गुर्दों पर मूत्रल प्रभाव है ।

पंचांग का क्वाथ लगभग एक पाव जल में २०-२५ ग्राम औषधि डालकर तैयार करते हैं व ४०-८० मिलीलीटर की मात्रा में दिन

में २ बार देते हैं । अदरक स्वरस, वासा, भारंगी एवम् यष्टिमधु (मुलहठी) अथवा पिप्पली के साथ संयुक्त रूप में प्रयुक्त होने पर असाध्य दमा रोग मिटाती है । व्याधिहरीतिकी इसका सुप्रसिद्ध योग है ।

क्र० १८- शिरीष (अल्बी जिया लेबेक) :- शिरीष, शुकप्रिय एवं सरसड़ों इसके अन्य नाम हैं । यह बबूल परिवार का है व इसका ५० फीट ऊँचा वृक्ष प्रायः सड़कों के किनारे मिलता है । पीले सुगन्धित पत्ते अप्रैल-जून में आते व शीत में फल पकते हैं, जो लगभग आधे से एक फुट लम्बी चपटी फली के समान होते हैं । यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है । इसकी छाल, बीज, पत्ते व पुष्प प्रयुक्त होते हैं । छाल में टैनिन तथा सैपोनिन होता है ।

त्रिदोषनाशक यह औषधि, रक्तशोधक, कफघ्न एवम् शोथहर है । हर प्रकार की खाँसी, श्वास रोग तथा प्रतिश्याय में इसे प्रयुक्त किया जाता है । अधिक समय से चले आ रहे कफ प्रधान रोगों में इसके बीज चूर्ण का नस्य देते हैं । श्वास रोग में पुष्पों का स्वरस, पिप्पली चूर्ण एवं मधु के साथ देते हैं । इसकी छाल का क्वाथ एवम् अवलेह भी प्रयुक्त होता है । कई विशेषज्ञों ने मुलहठी, शिरीष, कण्टकारि एवम् वासा को समानुपात में मिलाकर पकाये गये जौकुट चूर्ण के क्वाथ को श्वास रोगों में बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है । चूर्ण (बीज या छाल) ३ से ६ ग्राम, स्वरस २ से ४ चम्मच, क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर (१ से ३ औंस) की मात्रा में प्रयुक्त होता है । शिरीषारिष्ट इसका विशेष योग है ।

(ब) ऊपरी पाचन संस्थान व यकृत प्लीहा संबंधी रोगः-

इस संस्थान के अन्तर्गत मुँह की चर्चा तो की जा चुकी है (पृष्ठ९) इसमें मुख्यतः आते हैं- खाने की फेरिंक्स व आमाशय को जोड़ने वाली नली इसोफेगस, आमाशय (स्टॉमक) ड्यूडनम व जेजुनम (छोटी आँत का प्रारंभिक भाग) तथा इलियम (छोटी आंत का शेष भाग), लीवर (यकृत), पित्ताशय एवं पक्वाशय (पैन्क्रियाज) तथा स्प्लीन (प्लीहा) । इस संस्थान से संबन्धित मुख्य रोग हैं- इसोफेगस नली में सूजन, अम्ल का प्रवेश कर जाना (रिफ्लेक्स इसोफेजाइटिस) या इसोफेगस में शोथ,

आमाशय में व्रण, अग्निमंदता (अम्ल का कम बनना), ड्यूओडनल अल्सर, पैन्क्रियॉज, लीवर या गाल ब्लाडर की सूजन, यकृत व प्लीहा का बढ़ना, पीलिया व सिरोसिस रोग तथा इनमें से किसी का भी ट्यूमर ।

इनमें वनौषधि चिकित्सा के अन्तर्गत प्रयुक्त द्रव्य हैं- आँवला, मुलहठी, शतपुष्पा, शरपुंखा, कालमेघ । इनका वर्णन इस प्रकार है ।

क्र० १९.आमलकी (आँवला एम्बेलिका ऑफिसिनेलिस)

इसे आदिफल, अमरफल या धात्रीफल आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता रहा है । त्रिफला योग का एक घटक यह द्रव्य अपने रसायन गुण के कारण प्रख्यात है । इसका २०-२५ फीट ऊँचा वृक्ष होता है, जिस पर पंख के समान इमली के पत्तों की तरह पत्र होते हैं । पीले फूल गुच्छों में फरवरी से मई तक लगते हैं, एवं फल अक्टूबर से अप्रैल तक मिलते हैं । यह सारे भारत में समुद्र तल से ४५०० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है । औषधि प्रयोजन हेतु बागी आँवले की तुलना में वन्य आँवला ही प्रयुक्त होता है, जो कि छोटा व कठोर होता है । प्रयोज्य अंग फल है । जिसे माघ में संग्रह करके छाया में सुखा कर सूखे शीतल स्थान पर रख दिया जाता है । छाया में सुखाने से विटामिन सी कम से कम नष्ट होता है । छेद करके थोड़ा उबाल कर धूप में चाशनी में लपेट कर रखने से फल तीन वर्ष तक गुण धर्म बनाये रखता है व सुस्वादु बन जाता है ।आँवले के फल में ११ प्रतिशत जल व शेष कार्बोहाइड्रेट, खनिज तथा विटामिन प्रचुर मात्रा में होते हैं । विटामिन बी - १ तथा सी. की प्रमुखता रहती है। प्रति १०० ग्राम लगभग ९२० मिलीग्राम एस्कार्बिकएसिड (विटामिन सी) इसमें पाया गया है ।

आँवला त्रिदोषहर है, विशेष रूप से पित्तनाशक है । अम्ल पित्त के रोगियों में यह हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का उत्सर्जन कम करता है व पेप्टिक अल्सर की संभावना को मिटाता है । यह शूल निवारक है । इसमें पाया जाने वाला पदार्थ फिलेम्बिन स्पाज्मौलिटिक (आँतों की मांसपेशियों को शिथिल करने वाला) होता है । विटामिन सी की कमी से होने वाले सभी लक्षणों (मसूढ़ों की सूजन, मुँह के कोनो का फटना,

हड्डियों में स्वतः टूटन होना, कमजोरी व चिड़चिड़ाहट) को यह मिटाता है। अपने इन्जाइम्स के माध्यम से यह पाचन तंत्र को सशक्त बनाता तथा ऐसे रस स्रावों को पाचन प्रक्रिया में सहायक भूमिका निभाने हेतु उत्तेजित करता है। भोजन के प्रति अरुचि, उल्टी तथा हिचकी एवम् रक्त वमन में यह विशेष लाभकारी है। पित्त के अधिक स्राव होने के कारण होने वाली छाती की जलन इसके प्रयोग से तुरन्त मिटती है। फल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम दो बार, ताजा रस लगभग पाँच चम्मच मिश्री की चासनी या मधु के साथ दो बार एवं चूर्ण का क्वाथ गुड़ की राब के साथ एक से दो बार दिया जाता है।

क्र० २० मुलहठी (यष्टिमधु) ग्लीसराइजा ग्लेब्रा, जेठी मधु, अति मधुरम्, लिकोरिस इसके अन्य नाम हैं। यह बहुवर्षायु क्षुप है। जो कभी-कभी ६ फीट तक ऊँचा हो जाता है। अभी तक इसे भारत से बाहर अफगानिस्तान, दक्षिण रूस, ईरान, तुर्क देश से मँगाया जाता था, किन्तु अब इसे उत्तर-भारत में मँसूरी, चकराता हिस्से में भी उगा पाने में सफलता मिली है।

इसकी जड़ें ही औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होती हैं। ये गोल लम्बी झुर्रीदार होती हैं। भूमिगत तना व जड़ सुखाकर छिलका हटाकर या छिलके सहित प्रयुक्त होता है। घुमची या गुञ्जा की जड़ बहुधा इसमें मिलायी जाती है। अतः सही औषधि की पहचान जरूरी है। असली मुलहठी अन्दर से पीली, रेशेदार व हलकी मीठी गन्ध लिये होती है।

यह दाह नाशक, वात-पित्तशामक, पिपासा नाश औषधि है। इसका प्रभाव अम्ल रस उत्पादक ग्रन्थियों पर पड़ता है व रस बनने की प्रक्रिया इसके प्रभाव से कम हो जाती है। पेट की जलन या दर्द को यह दूर कर पेप्टिक अल्सर के व्रणों की हीलिंग में मदद करती है। उदर शूल की यह अचूक औषधि है। यह नाड़ी संस्थान को बल प्रदान करने वाला एक रसायन है। बुद्धिवर्धक औषधि के रूप में भी इसे प्रयोग किया गया है। यह कब्ज को मिटाती है एवम् यकृत के लिए उत्तेजक है। श्वास, खाँसी व लेरिन्जाइटिस में भी इसे प्रयोग करते हैं। टी०बी० के व्रण

इसके प्रयोग से जल्दी भरने लगते हैं। कफ इसके प्रयोग से जल्दी निकलता व दमे का वेग शान्त होता है।

इसका प्रभाव घटक, जिसके कारण यह अम्ल पित्त शामक गुण दिखाती है एवम् खाने में मीठी लगती है, ग्लिसराइजिन होता है। साधारण गन्ने की शक्कर से यह ५९ गुना अधिक मीठा होता है। इसके अतिरिक्त आइसोलीक्विरिटिन, सुक्रोस व स्टेराइड हारमोन्स भी इसमें होते हैं।

एक बार में इनका ३ से ६ ग्राम चूर्ण ठण्डे जल के साथ देते हैं।मुलहठी सत्व एक बार में आधा से एक ग्राम तक देते हैं। क्वाथ रूप में १० या १५ मिली लीटर दिन में दो या तीन बार देते हैं।

क्र० २१. शतपुष्पा:- अनेक फूलों से ढँकी होने से इसे यह नाम प्राप्त है। इसे अनेथम सोवा, छत्रा एवं सुवा भी कहते हैं। एक से दो फुट ऊँचा क्षुप सारे भारत में पाया जाता है। शीतकाल में पुष्प व फल लगते हैं। मिश्रेया (फिनीक्युलम वल्गेर) नाम में इसकी ही एक प्रजाति (सौंफ) पाचन संस्थान को बल देने के प्रयोजन हेतु काम में आती है। इसके बीजों में उड़नशील तेल व एनीथॉल नामक प्रमुख तत्व होता है। इसके बीज व उनका तेल प्रयुक्त होता है।

यह कफ - वात शामक औषधि है, जो पेट में दर्द, अरुचि, वमन, अग्निमंदता, अजीर्ण तथा कृमि रोगों में प्रयुक्त होती है। सोये का अर्क उदर शूल में तुरन्त लाभ पहुँचाता है। तृष्णा, डायरिया, बवासीर में भी इसका प्रयोग लाभकारी है। यह वायु को बाहर निकाल कर आम दोष मिटाती है। चूर्ण एक से तीन ग्राम, तेल एक से तीन बूँद व अर्क २०-४० मिली लीटर मात्रा में प्रयोग करते हैं। यह सामान्य दुर्बलता हेतु एक टॉनिक भी है। अर्क सोया, शतपुष्पादि चूर्ण, एवं शतपुष्पाकं विशिष्ट योग हैं।

क्र०२२. शरपुंखा :- (टेफ्रोजिया परप्यूरा) को प्लीहशत्रु (स्प्लीन की वृद्धि मिटाने वाला), सरफोंका तथा वाइल्ड इन्डीगो भी कहते हैं। इसका बहु वर्षायु बहुशाखा युक्त क्षुप लगभग २-२ फुट ऊँचा होता

है। ३ से ६ इन्च लम्बी पुष्प मंजरी बैंगनी रंग पुष्प लिए होती है। पुष्प वर्षा ऋतु में लगते हैं तथा फलियाँ जाड़े में आती हैं, जो १ से २ इंच लम्बी होती है। इनमें ६-८ भूरे रंग के बीज होते हैं। यह सारे भारत में पाई जाती है। पत्तियों तथा मूल में रूटिन व रुटिनाइड नामक पदार्थ होते हैं। बीजों से एक तेल निकलता है।औषधि प्रयोजन हेतु मूल व पंचांग का क्षार प्रयोग करते हैं।

यह कफ, वात शामक औषधि है। जिसे मूलत: यकृत प्लीहा वृद्धि (हिपेटोस्पीलीनोमेगाली) में प्रयुक्त किया जाता है। उदरशूल, अग्निमंदता, कब्ज में यह विशेष लाभकारी है। शरपुंखा मूल या क्षार का प्रयोग यकृत् की सूजन कम करने एवं प्लीहा में ब्लड कन्जेशन मिटाने हेतु प्रयुक्त करते हैं। यह कृमि नाशक भी है। जीर्ण ज्वर, जिसमें हिपेटाइटिस कारण हो तथा सिरोसिस आफ लीवर रोग में इसे विशेष रूप से लाभ पहुँचाने वाला कहा गया है। चूर्ण ३से ६ ग्राम, स्वरस २ से ४ चम्मच तथा क्षार १ से ३ ग्राम प्रयुक्त करते हैं॥

क्र० २३. कालमेघ (एण्ड्रोग्राफिंस पैलीकुलेटा) इसे भूनिम्ब, कल्पनाथ, करियातु नाम से भी जाना जाता है। इसका १ से ३ फीट ऊँचा क्षुप होता है। पत्ते भालाकार होते हैं तथा बैंगनी धब्बे युक्त श्वेत पुष्प मई से सितम्बर में आते हैं। फल चिकने रोम युक्त होते हैं। अक्टूबर तक पक जाते हैं। सारे भारत के मैदानी इलाके में होता है। इसमें कालमेघिन तथा एण्ड्रोग्राफोलिड नामक तिक्त पदार्थ पाए गए हैं।इस औषधि का पंचांग प्रयुक्त होता है।

यह कफ-पित्त शामक, यकृत उत्तेजक औषधि है, जिसे सभी प्रकार के लीवर के रोगों में प्रयोग किया जाता है। यह अग्निमंदता को दूर कर यकृत् वृद्धि कम करता है। कब्ज व कृमि रोग में भी यह लाभकारी है। यह पित्त सारक एवं रेचक औषधि है। अपने ज्वरघ्न रक्त शोधक गुण के कारण यह मलेरिया जन्य यकृत प्लीहावृद्धि तथा अल्कोहलिक व न्यूट्रीशनल सिरहोसिस में प्रयुक्त होता है। ज्वर के पश्चात् की दुर्बलता इसके प्रयोग से मिटती है।

पंचांग चूर्ण १ से ३ ग्राम, स्वरस ५ से १० मिली लीटर, क्वाथ २० से ४० मिली लीटर तथा तरल सत्व (लिक्विड एक्सट्रैक्ट) आधा से १ मिली लीटर की मात्रा में प्रयुक्त होता है। इसे शीत के आरम्भ में छाया में सुखाकर सुरक्षित रख देते हैं। चिरायता का यह प्रतिनिधि घटक है। अत: बहुधा चिरायता में इसकी मिलावट होती देखी जाती है।

(श) निचला पाचन संस्थान व उससे संबंधित रोग:-

इसमें विशेष रूप से बड़ी आँत के कोलोन, रेक्टम, एनल रीजन आते हैं। एपेन्डिक्स भी इसी से संबंधित अंग हैं। कोलोन में जीवाणु, कृमि या परजीवी अमीबा सूजन पैदा कर सकते हैं। नतीजा कोलाइटिस के रूप में होता है। इसमें डायरिया (प्रवाहिका) भी हो सकता है व डिसेण्ट्री भी, जिसमें रक्त मिश्रित मल भी हो सकता है व आँव भी। डायरिया में बार-बार लैट्रिन जाने की इच्छा होती है, पर हर बार पानी अधिक, मल कम निकलता है। अमीबिक हिपेटाइटिस व कोलाइटिस साथ-साथ हो सकते हैं। कृमियों में थ्रेडवर्म, पिनवर्म, राउण्डवर्म, जिआर्डिया इत्यादि हो सकते हैं। जो गुच्छे के रूप में जमा होकर विबन्ध एवम् गुल्म (कान्सटीपेशन व इलियस) एवम् डायरिया भी पैदा कर सकते हैं। भारत में इस रोग की बहुतायत है। यह भोजन मार्ग से पानी द्वारा फैलता है। बवासीर, पेचिस, एनल फिशर व फिस्चुला बड़ी आँत के अन्तिम भाग से संबंधित रोग हैं। कभी-कभी उद्वेगों, तनाव के कारण भी कब्ज बना रहता है। यह बवासीर को बढ़ाता है। कभी-कभी तनाव ही बार-बार हाजत एवम् आँव आने के रूप में प्रकट होता है। इसे 'इरीटेबुल बाँवेल सिण्ड्रोम' कहते हैं।

इसमें प्रयुक्त औषधियाँ है- हरीतकी(हरड़) ,बिल्व, अमलतास, नागकेशर, कुटज एवं बायविडंग।

क्र०. २४. हरड़ (टर्मीनेलिया चेब्युला) को हरीतकी, मनुष्यों की माता के समान हित करने वाली कहा गया है। इसे अमृतोपम औषधि मानते हुए अभया, पथ्या नाम भी दिये गये हैं। आयुर्वेद के ग्रंथकार इसकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'तू हर (महादेव) के भवन में उत्पन्न

हुई है, इसलिए अमृत से भी श्रेष्ठ है।' हरड़ की मूल उत्पत्ति- स्थली गंगा तट है। यहीं से सारे भारत व विश्व में फैली है। यह ५० फीट ऊँचा वृक्ष होता है एवम् सारे भारत में पूर्व से पश्चिम तक ५००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। छाल भूरे रंग की, फूल छोटे पीताभ श्वेत मंजरी में तथा फल १ से २ इंच लम्बे अण्डाकार होते हैं। कच्चे फल हरे व पकने पर पीले धूमिल होते हैं। फल शीतकाल में लगते हैं, जिन्हें जनवरी से अप्रैल के मध्य संग्रह करते हैं। बड़ी व छोटी दो में से छोटी हरड़ को अधिक निरापद व सौम्य प्रभाव डालने वाली माना गया है।

हरड़ के फल में टैनिन रूप में सक्रिय संघटक चेबुलेजिक एसिड, चेबुलिनीक एसिड व गेलिक एसिड हैं। एन्थ्राक्वीनिन जाति के ग्लाइकोसाइड रेचक क्रिया में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। हरड़ त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होती है। इसे लवण के साथ कफज, शक्कर के साथ पित्तज एवम् घृत के साथ वातज विकारों में देते हैं। हरड़ का टैनिन अम्ल आँतों की श्लेष्मा झिल्लियों पर ऐसा अनुकूल प्रभाव डालता है,ताकि उसके मल भाग की रक्षा हो सके। आँतों को संकुचित कर यह रस स्राव को कम करता है। ग्राही प्रभाव के साथ- साथ इसका प्रमुख गुण रेचक है। पुरानी कब्ज की जीर्ण आँतों को, बिना कोई हानि पहुँचाये यह तुरन्त लाभ दिखाता है। इसका जीवाणुनाशी प्रभावी बाह्य रोगाणुओं को नष्ट करने व दुर्गन्ध मिटाने के रूप में होता है। हरड़ मूलतः वात-शामक होने के कारण नाड़ियों को बलवान् बनाता है, तथा अन्तर्कोशीय शोथ मिटाता है: कृमि रोगों, संग्रहणी, बवासीर आदि रोगों में यह लाभ पहुँचाकर सात्मीकरण स्थिति लाता है। यह पित्त को कम करता है, आमाशय को व्यवस्थित तथा फूले बवासीर के मस्सों की नसों की सूजन कम करता है। इसे पीलिया, अग्निमन्दता तथा यकृत्प्लीहा वृद्धि में सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।

हरड़ का फल ही प्रयोग में आता है। सुखाये फलों का चूर्ण एक से तीन वर्ष तक प्रयुक्त किया जा सकता है। डिसेण्ट्री में इसे उबालकर, गेस्ट्राइटिस में मुँह में रखकर चबाकर, कब्ज में चूर्ण रूप में

तथा त्रिदोष विकारों में भूनकर लेते हैं। बवासीर एवं खूनी पेचिस में हरड़ चूर्ण दही या मट्ठे के साथ देते हैं। मस्सों की सूजन उतारने के लिए हरड़ क्वाथ का एनीमा भी लिया जाता है। अभयारिष्ट, पथ्यादिवटी, चित्रक हरीतकी, हरीतकी खण्ड आदि विशिष्ट योग हैं।

क्र० २५ बिल्व (बेल-इगल मर्मेलोज) विभिन्न प्रकार के रोगों को नष्ट करने की क्षमता के कारण बेल को विल्व कहा गया है। अन्य नाम हैं- शाण्डिल्य, श्री फल, गन्धगर्भ, सदाफल तथा विल्वम्। यह सारे भारत में, हिमालय की तराई में चार हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। १५ से ३० फीट ऊँचे कण्टक युक्त वृक्ष फलों से लदे होते हैं। पत्ते संयुक्त त्रिपत्रक होते हैं। मई में नये पुष्प आते हैं, तथा फल दूसरे वर्ष मई-जून मास में पकते हैं। जंगली बेल में फल छोटा व काँटे अधिक होते हैं। यही औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होते हैं। फल की मज्जा में म्युसिलेन पेक्टिन, टैनिन्स, जैसे ग्राही तथा मार्सेलोसिन एवं बीजों का एक तिक्त उत्पत तेल रेचक पदार्थ है।

वैद्यगणों ने इसे उत्तम संग्राही द्रव्य बताया है। यह कफ, वात, शामक है एवं पाचन संस्थान को सशक्त बनाता है। मूल की त्वचा व कच्चे फल का प्रयोग अग्निमंदता, अतिसार, प्रवाहिका एवं डिसेण्ट्री में होता है।पुरानी पेचिस, दस्त व बवासीर में इससे तुरन्त लाभ पहुँचता है। कब्ज टूटता है व मस्सों के बढ़ने की प्रवृत्ति मिटती है। हैजे के विषाणु पर इसका सशक्त प्रभाव देखा गया है। अल्सरेवटि कोलाइटिस जैसे रोगों में यह लाभ देकर नाड़ियों को बल प्रदान करता है। ताजे कच्चे फल का स्वरस, जल निष्कर्ष एवम् बिल्व फल चूर्ण संग्रहणी, हैजे जैसे संक्रामक रोगों में सफलता पूर्वक प्रयुक्त किया गया है। बेल फल का म्युसिलेज आँतों के अंदरूनी घावों को स्वस्थ बनाकर समर्थ बनाता है। मल संचय इससे रुकता है। बिल्व घोल का आँतों पर एड्सावेरन्ट एवं रक्षक प्रभाव देखा गया है। बिल्व फल मज्जा की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका कृमिनाशक (विशेषकर हुक वर्म, पिनवर्म व थ्रेडवर्म के लिए) रूप में है। कच्चे फल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम की मात्रा में, स्वरस १०

से २० मिलीलीटर एवं मज्जा का शरबत ३० से ४० मिलीलीटर लिया जाता है। मुख्य अनुपान शहद या मिश्री है। पत्र स्वरस भी पेचिस व कब्ज में लाभ पहुँचाता है। कच्चे फल का गूदा गुड़ के साथ पका कर रक्तातिसार में लाभ पहुँचाता है। काली मिर्च के साथ देने पर बिल्व पत्र स्वरस पीलिया व पुराने कब्ज में लाभकारी पाया गया है। शरीरगत शोथ (सूजन) में भी यह लाभ पहुँचाता है।

क्र०२६. अमलतास (कैसिया फिस्टुला) को आरग्वध (अनेक रोगों को नष्ट करने वाला), चतुरगुल, आरेवत, व्याधिघात सुवर्णक एवम् सियरलाठी जैसे नामों से भी पुकारा जाता है। इसका २५ फीट का मध्यम परिणाम का वृक्ष अपने १० -१२ इन्च लम्बे लट्ठाकार पत्रों एवं १ से २ फुट लम्बी फलियों के कारण अलग से पहचाना जा सकता है। चमकीले पीले रंग के फूल नयी-पत्तियों के साथ अप्रैल के बाद निकलते हैं व सारी गर्मी बने रहते हैं। बाद में फलियाँ पकती हैं, जो वर्ष भर लगी रहती हैं। यह वृक्ष सारे भारत में पाया जाता है। फल मज्जा, पुष्प एवम् मूल की त्वचा औषधि हेतु प्रयुक्त होती है।फल मज्जा में एन्थ्राक्विनोन, रेशे, शक्कर, ग्लूटीन, पेक्टिन पाये गये हैं। जो इसके रेचक होने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

यह एक वात- पित्त शामक एवम् कफ का संशोधन करने वाली औषधि है। अपने मृदु विरेचन गुण के कारण यह सुविख्यात है। भोजन के प्रति अरुचि, जीर्ण कब्ज, उदरशूल (कोलिक), लीवर की सूजन व पीलिया में इसका प्रयोग तुरन्त लाभ पहुँचाता है। यह मूत्रल भी है एवम् शोथ हर भी। हृदय जन्य जल संचय एवम् शोथ में इसका प्रयोग लाभ पहुँचाता है।

फल की मज्जा ५ से १० ग्राम (विरेचन हेतु १०से २० ग्राम) एवम् मूल त्वचा का क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर प्रयोग करते हैं। फल मज्जा का क्वाथ नहीं बनाना चाहिए,क्योंकि इससे उसकी शक्ति कम हो जाती है। इसकी पकी फलियों को सात दिन तक बालू के भीतर रख कर, उसके बाद धूप में सुखा दिया जाता है। अच्छी तरह सूख जाने

पर फल मज्जा निकालकर शुद्ध शुष्क पात्र में रख लेते हैं । इसका हिम या फाण्ट ताजा बनाकर प्रयुक्त करते हैं । आरग्वधादि तेल, आरग्वधारिष्ट विशिष्ट योग हैं ।

क्र० २७. नागकेशर (मेसुआ फेरिया) इसे नागपुष्प, चाम्पेय, पीला नागकेशर एवं नागेश्वर भी कहते हैं । यह एक सदाहरित मध्यम ऊँचाई का वृक्ष है । जिसकी छाल लाल - भूरी तथा शाखाएँ कोमल होती हैं । छाल से बबूल के समान गोंद निकलता है । पत्ता २से ६ इंच लम्बे नुकीले कोने वाले होते हैं । फूल २-३ एक साथ निकलते हैं एवम् पीले गुच्छों में होते हैं । फल डेढ़ इंच लम्बा अण्डाकर होता है, जिसके भीतर बीज होते हैं । पुष्प वसंत में तथा फल शरद में लगते हैं । औषधि हेतु पुंकेशर (पुष्पों के अन्तः दण्ड) प्रयुक्त होते हैं । यह पहाड़ी क्षेत्रों में ५ हजार फीट ऊँचाई तक पाया जाता है । पुंकेशर में तिक्त पदार्थ एवम् एक पीत रंजक द्रव्य होते हैं । पुष्पों से भूरे रंग का सुगन्धित तेल प्राप्त होता है । बीजों का तेल मैसुआल नामक पदार्थ युक्त होता है ।

यह एक कफ, पित्त शामक औषधि है, जो पाचन संस्थान में विशेष रूप से अर्श (बवासीर) फिस्चुला, फीशर्स आदि पर ग्राही प्रभाव रखती है । खूनी बवासीर रोकने में पुंकेशर का चूर्ण अतीव लाभकारी है । अग्निमंदता, अजीर्ण,कृमि एवम् प्रवाहिका में यह औषधि विशेष रूप से लाभकारी है । इसे रक्त पित्त, विकार एवम् रक्त प्रदर में भी प्रयोग करते हैं । पुंकेशर का चूर्ण १ से ३ ग्राम की मात्रा में जल अथवा मधु के साथ प्रयुक्त होता है ।

क्र० २८. कुटज (होलेरिना एण्टीडिसेण्ट्रीका) इसे कूट, कूड़ा वृक्षक, इन्द्रवृक्ष नाम भी दिये गये हैं । इसका वृक्ष लगभग ३५ फीट ऊँचा रूखी पीली छाल वाला होता है । पत्ते बड़े कदम्ब के पत्ते के समान,फूल सफेद तथा लगभग १ फीट लम्बे बेलन के आकार के होते हैं । जौ के समान बीज एक शिम्बी में लगभग २५ होते हैं । इन्हें इन्द्र जौ कहा जाता है । मई से जुलाई तक पुष्प व जाड़े में फल लगते हैं । कुटज, पुंकेशर के अनुसार स्त्री व नर जाति का होता है । रंग भेद से भी श्वेत व

कृष्ण कुटज कहे गये हैं । यह सारे भारत में चार हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है । इसकी छाल में कोनेसिन सहित १७ एल्केलाइड पाये गये हैं । बीजों से उग्रगन्ध लिए एक उत्पत तेल निकलता है । आठ से बारह वर्ष की आयु के वृक्ष की छाल का संग्रह शरद ऋतु में किया जाता है । यही वह औषधि है,जब एल्केलाइड्स अधिक मात्रा में इसमें होते हैं ।

यह एक कफ, पित्त शामक औषधि है, जिसका मूल कार्य बड़ी व छोटी आँतों में विद्यमान अमीबा एवम् अन्य कृमियों पर होता है । यह बवासीर मिटाता व कब्ज को दूर करता है, साथ ही प्रवाहिका में भी लाभ पहुँचाता है । एन्टेराइटिस व कोलाइटिस में इसका असर तुरन्त देखा जा सकता है । अग्निमन्दता, अतिसार, उदरशूल एवम् अर्श में विशेष रूप से लाभकारी है । इसकी छाल का चूर्ण एवं क्वाथ प्रयुक्त होता है । क्वाथ हेतु ४ से ५ चम्मच चूर्ण एक पाव पानी में गरम कर आधा रह जाने पर दिन में ३बार लेते हैं । चूर्ण ३से ६ ग्राम सबेरे शाम लिया जाता है । कुटजारिष्ट, कुटज सुरा तथा कुटजावलेह विशिष्ट योग हैं ।

क्र० २९. बिडंग (एल्बेलिया राइबिस) :- इसे कृमिघ्न (कृमियों का नाश करने वाला) बायबिडंग, बावडींग भी कहते हैं ।यह एक छोटा सा गुल्म होता है, जो भारत के पर्वतीय प्रदेशों में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है ।

बिडंग के पुष्प श्वेत वर्ण से रोमयुक्त शाखाओं में मंजरियों में लगे होते हैं । प्रयोज्य अंग फल होता है, जो मिर्च के समान गोलाकार, झुर्रीदार, थोड़े लाल-काले रंग के व गुच्छों में लगते हैं । फल के बीच एक झिल्लीदार बीज होता है, जिस पर सफेद दाग होते हैं । बिडंग के फलों में काफी मिलावट होती है, अतः सही पहचान जरूरी है । इसके बीजों में एम्बेली नामक घटक, एक उड़नशील तैल, टैनिन्स तथा क्रिस्टेम्बीन नामक एक एल्केलाइड होता है ।

यह एक कफ-वात शामक रसायन है, जिसकी उत्तेजक क्रिया शरीर के सभी अंगों पर होती है ।दाँत में कृमि होने एवं दन्तशूल होने पर

बिडंग क्वाथ का कुल्ला कराते हैं । यह अग्निमंदता मिटाता है । कृमिघ्न (एन्टीहेल्मीन्थिक) द्रव्यों में इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है । फाइलेरिया टीनिया सभी प्रकार के हेल्मीन्थ वर्म्स में खाली पेट एक से दो चम्मच बिडंग का चूर्ण देने व जुलाब देने पर वर्म्स से मुक्ति मिलती है । बाद में इन्द्र जौ के साथ देते रहने पर लाभ स्थाई पाया गया है । यह एक प्रकार का रक्तशोधक है एवम् विरेचन तथा मूत्रल गुण द्वारा विकारों को बाहर निकाल फेंकता है, कब्ज व अर्श (पाइल्स) में भी इसका प्रयोग किया गया है । क्षयग्रस्त शिशुओं में इसे रसायन कर्म हेतु प्रयुक्त किया जाता है । फल का चूर्ण ५से १० ग्राम की मात्रा में तथा बीज चूर्ण १से २ ग्राम की मात्रा में दूध में उबाल कर या तक्र (छाछ) के साथ देते हैं । बिडंगादि चूर्ण, बिडंग तैल, बिडंगलौह विशिष्ट योग हैं ।

(ष) मूत्रवाही एवं प्रजनन संस्थान:- दोनों संस्थान परस्पर सम्बन्धित हैं । संरचना की दृष्टि से जुड़े होने पर भी कर्म दोनों के अलग-अलग हैं । मूत्रवाही संस्थान में गुर्दे, मूत्रवाही नलिका (यूरेटर्स) मूत्राशय (यूरीनरी ब्लैडर) तथा यूरेथ्रा आते हैं । जिनके माध्यम से मूत्र विसर्जन प्रक्रिया पूरी होती है । सारे शरीर का रक्त गुर्दों से हृदय की हर धड़कन के साथ गुजरता है । एक मिनट में ४से ५ लीटर रक्त गुर्दों की छलनी के माध्यम से निकलता है । ग्लोमरयुलस नामक छलनी व वहाँ स्थित विशेष सेन्सर सेल्स यह निर्धारित करते हैं कि किसे बाहर जाना है व किसे रक्त में ही बने रहना है । गुर्दों के रुग्ण होने, छलनी की कार्यक्षमता अवरुद्ध बने रहने पर शरीर में विकार द्रव्य व जल एकत्र होने लगते हैं तथा एक्यूट व बाद में क्रानिक रिनलफैल्योर की भी स्थिति आती है । यह स्थिति संक्रमण (नेफ्राइटिस, नेफ्राएटिसपाइलो) के कारण भी हो सकती है एवं मार्ग में अवरोध (पथरी,वर्म्स या ट्यूमर) आने पर भी ऐसा हो सकता है । शरीर संस्थान की चयापचयिक गतिविधियों में व्यतिक्रम के कारण पथरी का बनना संभव हो पाता है ।महिलाओं की यूरेथ्रा नलिका छोटी होने से उन्हें संक्रमण होने के अवसर ज्यादा रहते हैं ।

प्रजनन संस्थान में पुरुषों में अण्डकोष-टेस्टीस, एपीडिडीमिस व शुक्रनलिका तथा सेमीनलवेसीकल व प्रोस्टेट नामक ग्रन्थियाँ होती है। ये प्रोस्टेट व यूरेथ्रा के संधिस्थल पर यूरेथ्रा में खुलती है, तब दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। महिलाओं में डिम्बाणु बनाने वाली ओवरी, वाहक नली- फैलोपियमट्यूब तथा गर्भाशय, सर्विक्स व वेजाइना आते हैं। इस छोटी सी पुस्तिका में बाजीकरण- शुक्रजनन व महिलाओं के बन्ध्याकरण के उपचार की चर्चा नहीं की गयी है। मात्र संक्रमण होने पर क्या उपचार संभव हो सकता है, इसका वर्णन है। पुरुषों में प्रोस्टेट का बढ़ना व महिलाओं में मासिक धर्म की अनियमितता, अति रक्तस्राव व पेल्विकइन्फ्लेमेटरी डिसआर्डर्स (पी० आई० डी०) का वर्णन है। इन संस्थानों पर कार्य करने वाले द्रव्य हैं- गोक्षुर, वरुण, अशोक एवं लोध्र।

क्र०३०. गोक्षुर (ट्रिवलस टेरेस्टीस) यह एक वन्य औषधि है, जिसे गोखरू नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इसके तेज वाँटे पशुओं के पैर में चुभकर उन्हें घायल कर देते हैं। इसे त्रिकण्टक, श्वदंष्ट्रा ईक्षुगन्धिका, हथचिंकार, न्हानागोा खरू नाम से भी पुकारते हैं। यह घास जैसी जमीन पर फैलने वाला क्षुप है। पूरे वर्ष यह हरा-भरा रहता है। दो- तीन फीट लम्बी इसकी शाखाएँ चारों ओर फैली होती हैं। पत्ते चने के पत्तों की तरह, पुष्प छोटे पीले रंग के तथा फल गोलाकार अनेक खण्डयुक्त होते हैं, जिनमें तीक्ष्ण काँटे होते हैं। प्रत्येक खण्ड में बीज होते हैं। मूल से गन्ने के समान गंध आती है। शरद ऋतु में पुष्प व बाद में फल लगते हैं।

पत्तियों में जल प्रोटीन व क्षार तथा खनिज पदार्थ पाये जाते हैं। हरमन नामक एक एल्केलाइड क्षुप में तथा बीज में हरमिन नामक एल्केलाइड होता है। कई प्रकार के सैम्पोनिन्स भी पाये गये हैं। यह एक वात-पित्त शामक, मूलतः मूत्रल एवं पथरी नष्ट करने वाली औषधि है। सभी प्रकार के गुर्दे के विकारों व शोथ में इसका प्रयोग चमत्कारी लाभ दिखाता है। मूत्र की मात्रा बढ़ती है, शूलजन्य वेदना कम होती है तथा १५ दिन में मूत्र मार्ग से पथरी टूट-टूट कर निकलकर विसर्जित हो जाती

मिलाकर चार गुने पानी में औटा कर क्वाथ बनाते हैं व दिन में दो बार प्रयुक्त करते हैं।

क्र० ३२. अशोक (साराका इण्डिका या जोनेसिया असोका) स्त्रियों के समस्त शोकों को दूर भगाने के कारण इसे अशोक कहते हैं, इसे हेम पुष्प व ताम्र पल्लव नाम से भी पुकारते हैं। इसका सदा हरा रहने वाला वृक्ष आम के समान २५से३० फुट ऊँचा होता है। छायादार तना कुछ लालिमा लिये भूरे रंग का होता है। यह वृक्ष सारे भारत में पाया जाता है। इसके रक्ताभ पुष्प सघन गुच्छों में वसन्त में निकलते हैं तथा फलियाँ जो ८ से १० इंच लम्बी चपटी होती हैं, शरद में लगती हैं। औषधीय प्रयोजन में छाल (त्वक्) पुष्प और बीज प्रयुक्त होते हैं। असली अशोक व सीता अशोक, पेण्डुलर अशोक जैसी बगीचे की प्रजातियों में गुण की दृष्टि से भारी अंतर होता है। वृक्ष की छाल पौष या माघ माह में एकत्र कर शुष्क शीत पात्र में सुरक्षित रखते हैं। पुष्पों को वर्षा में तथा कलियों को शरद के पूर्व संग्रह करते हैं।

इसकी छाल में हीमेटॉक्सीलिन, टैनिन कैटेकॉल, ऑक्सीटोसिन से मिलता-जुलता एक ग्लाइकोसाइड पीटूसैपोनिन एवं कार्बनिक कैल्शियम पाये गये हैं। छाल में विद्यमान ये संघटक गर्भाशय को उत्तेजित कर संकुचन बढ़ाते हैं। यह हानि रहित होता है। प्रायोगिक स्तर पर ट्यूमर कोशिकाओं में सामान्यीकरण होते भी देखा गया है।

यह कफ पित्त शामक एवं योनि दोषों के लिए एक श्रेष्ठ औषधि है। इसके सेवन से मासिक धर्म की अनियमितता दूर होती है, बाँझपन का कष्ट मिटता है एवं श्वेत तथा रक्त प्रदर से मुक्ति मिलती है। गर्भाशय के अर्बुदों तथा अति रक्तस्राव (मिनोरेजिया) में यह लाभकारी है। इन्डियन फार्मेकोपिया में भी इसके टिंक्चर को मान्यता प्राप्त है। अशोक का प्रधान प्रभाव गुर्दों, मूत्राशय एवं योनिमार्ग पर होता है। गर्भाशय की अन्तः कला (इन्टरनल लेयर) के अलावा ओवरी पर भी इसका उत्तेजक प्रभाव है। मासिक धर्म के समय दर्द तथा प्रसव के बाद कमजोरी के लिए इसे देते हैं। इसके बीजों का चूर्ण मूत्र कृच्छ व पथरी हेतु प्रयुक्त

होता है। छाल का चूर्ण १० से १५ ग्राम, बीज व पुष्प चूर्ण ३से ६ ग्राम, छाल का क्वाथ ५० मिली लीटर मात्रा में प्रयुक्त होता है। यह रक्त शोधक भी है एवं ज्वर नाशक भी। श्वेत प्रदर में इसे मिश्री व गाय के दूध के साथ तथा मिनोरेजिया में शरबत के रूप में देते हैं।

क्र० ३३. लोध्र (सिम्पलोकॉस रेसिमोसा) इसे स्थूल वल्कल (मोटी छाल वाला) एवं लोधर भी कहते हैं। इसका सदाबहार मध्यम ऊँचाई का वृक्ष होता है, जिसकी छाल काफी मोटी तहों में हल्के लाल रंग की होती है। २ से ४ इंच लम्बे पुष्पदण्डों पर पीले सुगन्धित पुष्प लगते हैं।फल १/२ इंच लम्बा कड़ा व बैंगनी होता है।यह सारे भारत में विशेष कर उत्तरी तथा मध्य भारत के मैदानी इलाके में पाया जाता है। इसकी छाल में लोट्युरिन लोट्युरिडिन नामक एल्केलाइड तथा दो सक्रिय ग्लाइकोसाइड पाये गये हैं।

यह कफ, पित्तशामक, रक्त स्तम्भक औषधि है, जिसकी अंत: अंगों की मांसपेशियों पर संकोचक क्रिया होती हैं। अति रक्त स्राव,(जो गर्भाशय की स्थानिक अथवा संस्थानिक व्याधियों के कारण हो सकता है) को यह रक्तवाही नलिकाओं पर अपने संकोचक प्रभाव द्वारा रोकता है। गर्भाशय की सूजन, एण्डो मेट्रीओसिस, श्वेत व रक्त प्रदर, फैलोपियन ट्यूब की सूजन, पेल्विक इन्फ्लेमेटरी डिसआर्डर्स (पी० आय० डी०) में इसके प्रयोग से तुरन्त लाभ पहुँचता है। ग्रेटन्ड एबार्शन में व उसके बाद भी तथा प्रसव के बाद गर्भाशय को सामान्य अवस्था में लाने व भावी संक्रमण रोकने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। गर्भाशय-योनि संबंधी रोगों में इसके क्वाथ की योनि वस्ति (वेजाइनलडूश) भी देते हैं। थक्का जमाने की प्रक्रिया बढ़ाकर व सूक्ष्म केपिलरीज को संकुचित कर डीसफंक्शनल यूटेराइन ब्लीडिंग में यह बड़ा उपयोगी है। औषधि प्रयोजन हेतु एल्केलाइड प्रधान छाल ही प्रयुक्त होती है। छाल का चूर्ण १ से ३ माशा व क्वाथ ५० से १०० मिली लीटर प्रयुक्त करते हैं। लोध्रासव, लोध्रादिक्वाथ इसके विशिष्ट योग हैं। अशोक के साथ भी इसे विभिन्न योनि दोषों में प्रयुक्त करते हैं।

(स) रक्तशोधन एवं संक्रमणः- ये दोनों ही शब्द किसी संस्थान विशेष से सम्बद्ध नही हैं । रक्त शोधक, रक्त की अशुद्धि आयुर्वेद में प्रयुक्त होने वाला शब्द है, जिसमें संस्थानगत विकारों के एकत्र होने का ऊहापोह होता है । संक्रमण आधुनिक आयुर्विज्ञान (एलोपैथी) का शब्द है, जिसके अंतर्गत जीवाणु- विषाणु विभिन्न मार्गों से शरीर पर आक्रमण कर रक्त में पहुँचते व वहाँ से विभिन्न अवयवों को क्षति पहुँचाते हैं । बीच का मार्ग यह है कि जीवनी शक्ति के क्षीण पड़ने पर शरीर का सुरक्षा संस्थान अपनी भूमिका ठीक से नहीं निभा पाता एवं संक्रामक रोगाणुओं का शरीर में प्रवेश से रोक नहीं पाता, जिसकी परिणति रक्त की अशुद्धि के रूप में होती है । गिलोय, सारिवा, खदिर एवं चिरायता ये चारों द्रव्य प्रति संक्रामक (एन्टीबायोटिक) भी हैं और रक्तशोधक भी तथा शरीर के प्रतिरोधी संस्थान को सशक्त बनाने वाले बलवर्धक रसायन भी ।

क्र० ३४. गिलोय (टीनोस्पो राकॉर्डीफोलिया) को अमृता, गुडूची, मधुपर्णी, तन्त्रिका, कुण्डलाकार, चक्रलक्षणिका एवम् गुडिच भी कहते हैं । यह एक बहुवर्षीय आरोही लता है, जो नीम, आम आदि बड़े वृक्षों पर कुण्डलाकार चढ़ती है । अमृत के समान गुणकारी होने से इसे अमृता नाम प्राप्त है । ज्वर निवारक होने के कारण इसे नवजीवन प्रदातक जीवन्तिका नाम भी प्राप्त है । इसका काण्ड एक अंगुली बराबर मोटा होता है । स्थान-स्थान से जड़ें निकल कर नीचे झूलती हैं । ऊपरी पतली त्वचा हटा देने पर नीचे का हरा मांसल रेशेदार भाग दिखाई पड़ता है । पत्ते हृदय के आकार के होते हैं । वर्षा में पुष्प व शीतकाल में फल लगते हैं । नीम पर चढ़ी गिलोय उसी का गुण अवशोषित कर लेती है, अतः श्रेष्ठ मानी गई है । ताजी औषधि का कल्क अधिक गुणकारी है । गिलोय का घनसत्व अधिक समय तक सुरक्षित रहता है । काण्ड को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर वर्षा से पूर्व सुखाकर चूर्ण बना लेने पर प्रयुक्त किया जा सकता है । इसमें बरबेरीन नामक एल्केलाइड तथा गिलोइन नामक ग्लाइकोसाइड पाया जाता है ।

यह त्रिदोषहर, रक्तशोधक,प्रति संक्रामक व ज्वरघ्न है । गिलोय एक रसायन एवं शोधक है, जो जरा को कभी समीप नहीं जाने देती व सात्मीकरण द्वारा शरीर का कायाकल्प कर देती है । किसी भी प्रकार के रोगाणु से जन्म लेने वाले रक्त विकार, जीर्ण विषम ज्वर तथा यकृत् की कमजोरी को दूर कर यह रोगी को स्वस्थ करती है । इसे एक प्रकार की कुनैन माना जा सकता है । मलेरिया बुखार के चक्र को यह तोड़ती है । पुराने टायफाइड, क्षय रोग, कालाजार, जीर्ण खाँसी आदि में इसके प्रयोग से तुरन्त लाभ पहुँचता है । प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि यह माइकोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलाई, ई- कोलाई, फंगल इन्फेक्शन आदि के लिये एक तीव्र प्रति संक्रामक है । इसे मधुमेह, कुष्ठ रोग तथा पीलिया में भी सफलता पूर्वक प्रयोग किया गया है । विषाणु जन्य हिपेटाइटिस में इसका निरापद प्रयोग कर वैज्ञानिकों ने सफलता पाई है ।

आयुर्वेद विशेषज्ञों के अनुसार इसे घी के साथ वातज, शक्कर के साथ पित्तज तथा मधु के साथ कफज विकारों में दिया जाना चाहिए । इसका सत्व १ से २ ग्राम, चूर्ण ३ से ६ ग्राम तथा क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर की मात्रा में प्रयुक्त होता है । अमृतारिष्ट, गुडूच्यादि चूर्ण, गुडूच्यादि क्वाथ विशिष्ट योग हैं ।

क्र०. ३५. सारिवा (हेमीडेस्मस इन्डीकस) :- इसे अनन्त मूल, गोपवल्ली, कपूरी, उपलसरी, एन्डियन सारसापरिला नाम से भी जाना जाता है । श्वेत व कृष्ण दो सारिवा होती है, जिसमें श्वेत ही वनौषधि के रूप में प्रचलित है । इसकी लता पतली, बहुवर्षायु गुल्म सदृश होती है । ५ से १५ फुट लम्बी लता जमीन पर भी फैल सकती है व समीप के वृक्षों पर भी चढ़ सकती है । सारिवा मूल से कर्पूरवत् गंध आती है, यही औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होता है । इसके हरे बैंगनी पुष्प श्रावण में आते हैं व मीठी चन्दन की गंध लिये होते हैं । फलियाँ कार्तिक मार्गशीर्ष में लगती हैं ।पूरे भारत में यह प्रहरी लता के रूप में पाई जाती है । इसमें एक उत्पत तेल, एक एन्जाइम व सैपोनिन प्रमुख होता है ।

यह त्रिदोष शामक रसायन है, जो रक्त शोधन भी करता है एवं

ज्वरघ्न भी है। यह स्वेद जनक व मूत्रल है तथा शरीर में किसी प्रकार के अन्तर्कोशीय जल संचय को मिटाती है। भाव प्रकाश निघंटु के अनुसार यह विषघ्न व रक्त विकार शामक औषधि है। त्वचा की व्याधियों में यह विशेष लाभकारी है तथा रक्त व्यापी विष को मूत्र मार्ग से बाहर निकाल देती है। इस औषधि की जड़ की छाल का चूर्ण, ताजा कल्क, एवं फाण्ट प्रयुक्त होता है। कल्क ५ से १० ग्राम, फाण्ट ५० से १०० मिलीलीटर तथा चूर्ण ३ से ६ ग्राम प्रयुक्त होता है। क्वाथ बनाने से उत्पन्न तेल नष्ट हो जाता है। अतः क्वाथ रूप में इसे प्रयोग नहीं करना चाहिए। सारिवादिबटी, सारिवाद्यासव, सारिवाद्यावलेह विशिष्ट योग हैं।

क्र० ३६. खदिर [अकेशिया कटेचु] :- का अर्थ है - रोगों को नष्ट कर शरीर में स्थिरता लाने वाला द्रव्य। इसे खैर, रक्त सार, दन्तधावन, कण्टकी एवं यज्ञीय भी कहते हैं। इसका वृक्ष मध्यम ऊँचाई का कण्टक युक्त शाखाओं वाला होता है। छाल काले भूरे रंग की लगभग एक से डेढ़ सेण्टीमीटर मोटी, लम्बी परतों में छूटती हुई होती है। पत्तों से इसे पहचाना जा सकता है। बरसात में श्वेत पुष्प आते हैं व हेमन्त में २ से ५ इन्च लम्बी फलियाँ पकती हैं। यह हिमालय की तराई में पश्चिमी पंजाब से अरूणाचल तक पाँच हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। खदिर के सार भाग से कत्था प्राप्त होता है, जो लगभग ७-८ प्रतिशत होता है। इसमें कैटेचिन, कैटेचु टैनिक एसिड होते हैं। सार भाग को उबाल कर कत्था प्राप्त किया जाता है।

यह कफ एवं पित्त शामक रक्त शोधक द्रव्य है। यह रक्त स्तम्भक (कोएगुलेण्ट) है। अतः रक्त स्राव बन्द करने हेतु इसका प्रयोग करते हैं। कुष्ठ के रोगियों को प्राथमिक स्थिति में इसके क्वाथ से स्नान करने पर रोग समाप्त हो जाता है। इसका प्रयोग रक्त स्राव, (मुख मार्ग से, नासिका अथवा मलाशय, मूत्राशय से) रक्त विकार एवं पीलिया रोग में करते हैं। यह शोथहर भी है। औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त मात्रा है-चूर्ण एक से तीन ग्राम, क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर एवम् खदिर सार

आधा से एक ग्राम। इसके विशिष्ट योग हैं- खदिरारिष्ट, खदिरादि क्वाथ, खदिरादिवटी।

क्र० ३७ चिरायता (स्वर्शियाचिरेटा) :- इसे किरात, तिक्त किरात व चिरेट्रा भी कहते हैं। यह आम उपलब्ध पौधा नहीं है। अतः इसमें मिलावट काफी की जाती है। यह ४ से १० हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय में गिलगित से अरुणाचल तक पाया जाता है। नेपाल में इसका औद्योगिक स्तर पर उत्पादन होता है। कहीं-कहीं हिमालय की तराई मंसूरी, चकराता, कुमाऊँ क्षेत्र में भी इसे पैदा करने में सफलता प्राप्त हुई है। इसके पंचांग में सभी भाग, विशेष कर काण्ड एवं पुष्प प्रयुक्त होते हैं।इसके तिक्त क्षुप २ से ४ फुट ऊँचे द्विवर्षायु होते हैं।काण्ड स्थूल, आधे से डेढ़ मीटर लम्बे व शाखायुक्त होते हैं। हरे पीले पुष्प वर्षा ऋतु में आते व फल वर्षा के अन्त में पकते हैं।

इसमें पीले रंग का एक अम्ल ऑफेलिक एसिड तथा चिरायतिन एमरोजेन्टीन नामक दो कड़वे ग्लाइकोसाइड्स पाये गये हैं। एक जैन्थोन सुअर्चिरिन नामक पाया गया है। इसे सन्निपात ज्वर, व्रण, रक्त दोष व सभी प्रकार के बैसीलिमीया की एक श्रेष्ठ औषधि माना गया है।यह एक प्रकार की प्रति संक्रामक औषधि है, जो ज्वर के मूल कारण संक्रमण का निवारण कर शरीर की जीवनी शक्ति बढ़ाती है। यह त्रिदोष शामक है एवं आधुनिक आयुर्विज्ञान द्वारा भी ज्वर हेतु मान्यता प्राप्त (इन्डियन, ब्रिटिश व अमेरिकन फार्मेकोपिया) औषधि है। काफी समय से जीर्ण ज्वरों में इसका टिंक्चर प्रयुक्त होता रहा है। यह सिन्कोना की तरह ही मलेरिया ज्वर पर प्रभाव डालकर उसका चक्र तोड़ती है एवं यकृत् से उसके परजीवी को बाहर निकाल फेंकती है। यह मूलतः जीवाणुरोधी एवं जीवनी शक्ति वर्धक रसायन है, कोई जीवाणु नाशक एण्टीबायोटिक नहीं।इसलिए इनके प्रयोग के बाद कमजोरी नहीं आती। उसका प्रभाव हेलमीन्थिएसिस समूह के सारे कृमियों पर देखा गया है। क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर दिन में २ या ३ बार, मधु या मिश्री की चाशनी के साथ चूर्ण एक से तीन ग्राम तक मात्रा में लेते हैं। इसका फाण्ट भी प्रयुक्त

होता है । इसके विशिष्ट योग हैं- सुदर्शन चूर्ण एवम् किरातादि क्वाथ ।

(ह) हारमोन्स संस्थान :- सभी एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स (एसीटीएच, थायरॉक्सिन, ग्रोथहारमोन, एड्रीनेलिन, टेस्टोस्टेशन व ऑक्सीटोसिन) पर तो रसायन वर्ग की औषधियाँ ही काम करती हैं । यहाँ उनकी चर्चा न कर थायराइड पर काम करने वाली काञ्चनार एवम् पैन्क्रियाज पर सक्रिय मेषशृंगी (गुड़मार) की चर्चा की जा रही है । इसमें थायराईड एण्डोक्राइन तथा पैन्क्रियाज एक्जोक्राइन ग्रंथि है । थायराइड की व्याधि थायरोटॉक्सिसोसिस, गाइटर एवम् मीक्सीडीमा के रूप में तथा पैन्क्रियाज की व्याधि डायबिटिज एवम् स्पान्टेनियस हाईपोग्लासीमिया के रूप में प्रकट होती है ।

क्र० ३८. काञ्चनार :- इसे गण्डमाला नाशक द्रव्य माना गया है । इसे बहोनिया वेरीगेटा, कचनार, गण्डारि, युगपत्रक, स्वल्प केसरी तथा चम्पाकारी नाम से भी पुकारते हैं । इसका वृक्ष मध्यम ऊँचाई का ८ से १० फुट ऊँचा होता है, जिसके दो खण्डों में कटे पत्र अलग से पहचान में आ जाते हैं । छाल धूसर, लम्बाई में फटी होती है, पुष्प जाति भेदानुसार श्वेत, गुलाबी या बैंगनी होते हैं । ये फरवरी मार्च में निकलते हैं एवम् अप्रैल मई में आधे से एक फुट लम्बी फलियाँ निकलती हैं, जिनमें १२ से १५ बीज होते हैं । यह सारे भारत में ४००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है । छाल एवं पुष्प औषधि प्रयोजन हेतु प्रयुक्त होते हैं ।इनमें टैनिन्स, शर्करा व गोंद होते हैं ।

यह कफ, पित्त शामक शोथ हरनें वाला वामक द्रव्य है, जिसकी विशिष्ट क्रिया एक्जो व एण्टोक्राइन ग्रन्थियों पर होती है, जहाँ यह अन्तर्कोशीय शोथ (इन्टरसेल्युलर इडिमा) को दूर करता है । पेरोटिड ग्रन्थियों की सूजन (मम्प्स), थायराइड ग्रन्थियों की सूजन, किसी भी प्रकार के हॉट व कोल्ड नॉड्यूलर गॉइटर में इसका कार्य शोथ कम कर चयापचय का संतुलन करना है । यह थायरॉक्सीन की आक्सीजन मेटाबॉलिज्म में खपत बढ़ाता तथा थायरोट्राफिक हारमोन का संतुलन रक्त में सूक्ष्म स्तर पर स्थापित कर होमियोस्टेसिस (सात्मीकरण) की

स्थिति लाता है । छाल का चूर्ण ३ से ६ ग्राम, क्वाथ ४० से ८० मिली लीटर, पुष्प स्वरस १० से २० मिलीलीटर प्रयुक्त होते हैं । विशिष्ट योग हैं- काञ्चनारादि क्वाथ एवं काञ्चनार गुग्गुलु ।

क्र० ३९. मेषश्रृंगी (गुड़मार) :- इसे जिम्नेमा सिल्वेस्टर, मधुनाशिनी, मेड़ासिंगी तथा कावली नाम से भी जानते हैं । जीभ पर इसकी पत्तियों को रखते ही मधुर रस के लिये रस ग्रहण शक्ति चली जाती है । अम्ल पर यह प्रभाव नहीं होता, लवण पर कम होता है, इसी कारण इसे मधु नाशिनी कहते हैं । यह मूलतः उत्तरी भारत व पश्चिमी भारत में पायी जाती है ।यह एक आरोहणी लता है, जिसका काण्ड पतला, सघन, रोमयुक्त होता है । पत्ते अण्डाकार, पुष्प पीले घण्टे के आकार के होते हैं, जो अगस्त-सितम्बर में आते है । एकाकी भाले के आकार के २-३ इंच लम्बे फल जनवरी से मार्च तक पकते हैं ।

इसकी पत्तियों में जिम्नेमिक अम्ल, क्वेर्सिटॉल कैल्शियम ऑक्जेलेट एवम् एन्थ्राक्विनोन पाये गये हैं । इसके अल्कोहलिक सत्त्व में सैपोनिन पाये गये हैं । ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान तथा आय.डी.पी.एल. वीरभद्र में इसके अल्कोहलिक सत्त्व एवं पत्र चूर्ण दोनों के, जीवों तथा मनुष्यों पर प्रयोग किये गये हैं तथा इसके मधुमेह प्रतिरोधी गुण को स्थापित करने में बड़ी सफलता मिली है । अल्कोहल एक्सट्रेक्ट के कैप्सूल भी बनाये गये हैं ।

यह एक कफ - वात शामक, शोथ हरने वाली विष नाशक, वामक औषधि है । यह लीवर एवं आमाशय ग्रंथियों के लिये उत्तेजक है । प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि यह पैन्क्रियाज ग्रन्थियों की कोशिकाओं को उत्तेजित कर एन्सुलीन की मात्रा रक्त में बढ़ाती, ग्लूकोज को जलाने में सहायता करती है । यह मूत्रल होने के कारण रक्त की अम्लता को भी मिटाती है । इस प्रयोजन हेतु पत्र चूर्ण प्रयुक्त होता है, क्योंकि कार्यकारी संघटक सर्वाधिक इसी में होते हैं । पत्र चूर्ण ३ से ६ ग्राम की मात्रा में प्रयुक्त होता है । मूल का क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर की मात्रा में प्रयुक्त करते हैं ।

(क्ष) बलदायी रसायन :- शरीर में सात्मीकरण लाकर जीवनी शक्ति बढ़ाने तथा शक्ति देने वाले कायाकल्प हेतु चिर प्रचलित रसायन हैं-अश्वगंधा, शतावर, बला । इन्हें सारे संस्थानों पर क्रियाशील माना गया है । इन्हें बाजीकरण हेतु प्रयोग न मानकर शक्ति संवर्धक मानना चाहिए ।

क्र० ४० अश्वगंधा [विदेनिया सॉम्नीफेरा] इसे असगंध, बराह कर्णी, आसंध नाम से भी जाना जाता है । कच्चे मूल से अश्व के समान गंध आती है, इसलिये अश्वगंधा कहते हैं । यह एंक प्रकार की भारतीय गिनसेंग है । सारे भारत में यह पायी जाती है, पर पश्चिमी मध्यप्रदेश में मन्दसौर जिले तथा नागौर की अश्वगंधा प्रसिद्ध व अधिक गुणकारी है । इसका झाड़ीदार क्षुप लगभग २ से ४ फुट ऊँचा बहु शाखा युक्त होता है । पत्ते सफेद रोमयुक्त अखण्डित अण्डाकार होते हैं । फूल पीला हरापन लिए चिलम के आकार के होते हैं एवं शरद ऋतु में निकलते हैं । फल गोलाकर रसभरी के फलों के समान होते हैं, इसमें लोआब से लिपटे असंख्यों बीज होते हैं ।ये कार्तिक एवं मार्गशीर्ष में पकते हैं । इसका मूल ही प्रयुक्त होता है, जिसे जाड़े में निकाल कर छाया में सुखाकर सूखे स्थान पर रखा जाता है ।

अश्वगंधा की जड़ में कई एल्केलाएड यथा - कुस्कौहाइग्रीन, ऐनाहाइग्रीन, ट्रोपीन, ट्रोयूडोस्पीन, बिदासोमिन एवम् विदनॉल विटामिन पाये गये हैं । यह औषधि मूलतः कफ - वात शामक, बलवर्धक रसायन है । असगंध को सभी प्रकार के जीर्ण रोगों, क्षय-शोथ आदि के लिए श्रेष्ठ द्रव्य माना गया है । कायाकल्प योग की यह एक प्रमुख औषधि है । यह शरीर में धातुओं की वृद्धि करती है एवम् मांस-मज्जा का शोधन करती है । मेधा वर्धक है तथा मस्तिष्क के लिए तनाव शामक भी । मूर्छा, भ्रम, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप,शोथविकार, श्वास रोग, शुक्रदौर्बल्य, कुष्ट इन सभी में यह समान रूप से लाभकारी है । यह एक प्रकार के एफ्रोडिजीयक (कामोत्तेजन) की भूमिका निभाती है, परन्तु इसका कोई अवांछनीय प्रभाव शरीर पर नहीं देखा गया । यह जरा नाशक है ।"एजींग" को यह रोकती

व आयु बढ़ाती है। रक्त का हिमोग्लोबिन इसके प्रयोग से बढ़ता है व सभी संधियों में लचीलापन आता है। यह एक प्रकार का हिमेटीनीक टॉनिक है। मूल चूर्ण ३ से ६ ग्राम एक बार में, क्षार १ से ३ ग्राम तथा अश्वगंधा घृत २ चम्मच प्राय: प्रयुक्त करते हैं। अश्वगंधादि चूर्ण, अश्वगंधारिष्ट, अश्वगंधा रसायन इसके विशिष्ट योग हैं।

क्र०.४१ शतावर (एक्स्पेरेगस रेसिमोसस) :- इसे शतमूली, बहुसुता, सतावर, सतावरी तथा अतिरसा शतवीर्या नाम से भी जाना जाता है। यह एक काँटों से युक्त झाड़ीदार आरोही लता है, जो ग्रीष्म ऋतु के मध्य कन्द युक्त काँटेदार बेल के रूप में प्रकट होती है। सारे भारत में ४००० फीट की ऊँचाई तक मिलती है। शाखाएँ चारों ओर अत्यधिक फैली होती हैं। पत्ते सोये जैसे नोकदार हँसिये की तरह दिखते हैं। नवम्बर के माह में सफेद फूलों से सारी लता ढँक जाती है। फल शीतकाल के अन्त में गोलाकार मटर आकार के रूप में लाल वर्ण के पकते हैं। शतावरी कन्द से जो सैकड़ों मूल निकलते हैं, अगणित जड़ युक्त होते हैं। इन्हीं का प्रयोग चिकित्सा प्रयोजन हेतु होता है।

इसमें श्लेष्मक द्रव्य, शर्करा, अनेकों सैपौनिन एवं अमीनो अम्ल पाये जाते हैं।यह कफ - पित्त शामक बल्य रसायन है, जो सीधे एण्डोक्राइन्स पर प्रभाव डालती है। यह मात्र धातुओं को नहीं-मांस, शुक्र व स्तन्य को विशेष बल देती है। इसीलिए इसे बल्य महाकषाय कहा गया है। इसके प्रयोग से राजयक्ष्मा से लेकर किसी भी प्रकार के जीर्ण रोगों के रोगी को लड़ने हेतु जीवनी शक्ति मिलती है। यह आन्तरिक चयापचयजन्य गर्मी को शान्त कर बल प्रदान करती है। सारे शरीर में जहाँ किसी तत्त्व विशेष की कमी है, वहाँ इसके रसायन पहुँचते व सूक्ष्म रूप में रक्त व अन्तर्कोषीय स्तर पर घुलकर सात्मीकरण की स्थिति ला देते हैं।शतावर हृदय की संकोचन क्षमता बढ़ाती व गर्भाशय की समग्र विधि व्यवस्था को संतुलित करती है। जड़ का निष्कर्ष पिट्युइ-एड्रीनल एक्सिस पर प्रभाव डालकर कई हारमोन्स के स्राव को प्रभावित करता है।

मात्रा स्वरस २ से ४ चम्मच, चूर्ण ३ से ६ ग्राम, क्वाथ ५० से १०० मिलीलीटर प्रयुक्त होता है । जहाँ तक सम्भव हो, शतावरी गीली ही प्रयुक्त होती है । यदि गीली न मिले तो ही सूखा चूर्ण लेना चाहिए । शतावरी घृत, शतमूल्य दिलौह, शतावरी पानक विशिष्ट योग हैं ।

क्र० ४२. सभी रोगों के लिए एक ही औषधि तुलसी (ऑसिमम सैक्टम) :- 'तुलसी' शब्द का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि जिस वनस्पति की किसी से भी तुलना न की जा सके वह तुलसी है । तुलसी को हिन्दू धर्म में जगत् जननी का पद प्राप्त है । उसे वृन्दा भी कहा गया है । तुलसी के माहात्म्यों व कारण शक्ति के सूक्ष्म प्रभावों से पुराणों के अध्याय भरे पड़े हैं ।सर्व रोग निवारक तथा जीवनी शक्ति संवर्धक इस औषधि को संभवतः प्रत्यक्ष देव माना जाना इसी तथ्य पर आधारित है कि ऐसी सस्ती सुलभ, सुन्दर उपयोगी वनस्पति मनुष्य समुदाय के लिये कोई और नहीं ।

वानस्पतिक परिचय :- तुलसी का पौधा सदा हरित होता है । साधारणतः मार्च से जून तक इसे लगाते हैं । सितम्बर और अक्टूबर में यह फूलता है । सारा पौधा सुगंधित मञ्जरियों से लद जाता है । जाड़े के दिनों में इसके बीज पकते हैं । यह बारहों माह किसी न किसी रूप में प्राप्त किया जा सकता है । तुलसी की सामान्यतः निम्न प्रजातियाँ पाई जाती हैं ।

(अ) ऑसीमम अमेरीकेन (काला तुलसी), गम्भीरा या गामरी ।(आ) ऑसीमम बेसिकिम (मरुआ तुलसी) , मुञ्जारिकी या सुरसा । (इ) ऑसीमम बेसिलिकम मिनिमम (ई) ऑसीमम ग्रेटिकम (रामतुलसी, वन तुलसी)(उ) ऑसीमम किलिमण्डचेरिकम(कर्पूर तुलसी) (ऊ) आसीमम सेक्टम तथा (छ) ऑसीमम विरिडी ।

इनमें ऑसीमम सैक्टम को प्रधान या पवित्र तुलसी माना जाता है । इसकी भी दो प्रधान जातियाँ हैं - श्री तुलसी, जिसकी पत्तियाँ हरी होती हैं तथा कृष्णा तुलसी, जिसकी पत्तियाँ नीलाभ-कुछ बैंगनी रंग लिए होती हैं ।श्री तुलसी के पत्र तथा शाखाएँ श्वेताभ होते हैं, जबकि कृष्णा

तुलसी के पत्रादि कृष्ण रंग के होते हैं ।गुण धर्म की दृष्टि से काली तुलसी को ही श्रेष्ठ माना गया है ।

तुलसी का गुल्म के समान क्षुप १ से ३ फुट ऊँचा, शाखायुक्त रोमश, बैंगनी आभा लिए होता है । पत्र १- २ इन्च लम्बे अण्डाकार या आयताकार होते हैं । प्रत्येक पत्र में एक प्रकार की तीव्र सुगन्ध होती है । पुष्प मंजरी अति कोमल, इसकी ८ इंच लम्बी और अनेक रंग छटाओं से मण्डित होती है । इस पर बैंगनी या रक्त सी आभा लिए बहुत छोटे पुष्प क्रमों में लगते हैं । कोण पुष्पक प्राय: हृदयवत् होते हैं । बीज चपटे पीत वर्ण के, छोटे काले चिह्नों से युक्त अण्डाकार होते हैं । पुष्प शीतकाल में आते हैं ।

संग्रह- संरक्षण - पत्र, मूल, बीज उपयोगी अंग हैं । इन्हें सुखाकर मुख बन्द पात्रों में सूखे शीतल स्थानों पर रखा जाता है । इन्हें एक वर्ष तक प्रयोग में लाया जा सकता है । सर्वत्र एवं सर्वदा सुलभ होने से पत्रों का व्यवहार ताजी अवस्था में किया जाना ही श्रेष्ठ है ।

सभी प्रकार के कफ, वात विकारों में तुलसी उपयोगी है । स्थानीय लेप के रूप में व्रणों, शोथ, संधि, पीड़ा, मोच आदि में इसका लेप करते हैं । अवसाद एवं "लो ब्लड प्रेशर" की स्थिति में इसे त्वचा पर मलने से तुरन्त स्नायु संस्थान सक्रिय होता है । शरीर के बाहरी कृमियों में भी इसका लेप करते हैं । चरक के अनुसार यह अग्नि मंदता, किसी भी प्रकार के उदरशूल तथा आँतों के कृमियों में उपयोगी है । बीज प्रवाहिका में देने पर तुरन्त लाभ करते हैं ।यह हृदयोत्तेजक है तथा रक्त विकारों का शोधन करता है । खाँसी, दमा तथा इस कारण मांसपेशियों व रीढ़ की हड्डी के जकड़न में इसका स्वरस बहुत उपयोगी है ।

आचार्य शर्मा के अनुसार मूत्रदाह व विसर्जन में कठिनाई तथा ब्लैडर की सूजन व पथरी में बीज चूर्ण तुरन्त लाभ करता है । कुष्ठ की यह सर्वश्रेष्ठ औषधि है । यह विषम ज्वर को मिटाती है । किसी भी प्रकार के ज्वर के चक्र को यह तुरन्त तोड़ती है । राजयक्ष्मा में भी इसके प्रयोग सफल रहे हैं । जीवनीशक्ति बढ़ाकर यह जीवाणुओं को बढ़ने नहीं देती ।

यह मलेरिया विरोधी है । क्षुप घर के आस-पास लगाने से मच्छर नहीं समीप आते, इसके स्वरस का लेप करने से वे काटते नहीं तथा मुख द्वारा ग्रहण किये जाने पर उन्हें इसके सक्रिय संघटक नष्ट कर देते हैं । बीज रसायन भी है तथा दुर्बलता का नाश करते हैं ।

श्वेत तुलसी उष्ण व पाचक है । यह बालकों के प्रतिश्याय तथा कफ रोगों में प्रयुक्त होती है । काली तुलसी कफ निस्तारक एवं ज्वर नाशक है । सूखे पत्तों का चूर्ण पीनस (साइनोसाइटिस) के लिए प्रयुक्त होता है ।तुलसी सिद्ध तेल कर्णशूल को मिटाता है ।

तुलसी रस में मलेरिया ज्वर के कारण प्रोटोजौआ पेरेसाइट तथा मच्छरों को नष्ट करने की अद्‌भुत क्षमता है । पहली बार सन् १९०७ में इंग्लैंड में इम्पीरियल मेडिकल कान्फ्रेन्स में इस बात का रहस्योद्‌घाटन किया गया कि काली तुलसी से मलेरिया का उपद्रव बहुत कम हो जाता है । इसके बाद बहुत से अनुसंधान इस क्षेत्र में हुए हैं, व बड़े सफल रहे हैं । सभी में पाया गया कि तुलसी पत्रों से स्पर्श की हुई वायु में ऐसे गुण होते हैं कि मच्छर उस पूरे परिसर के आस-पास फटकते भी नहीं । वैज्ञानिकों ने तुलसी के अन्दर एक ऐसा उड़नशील तेल पाया है, जो हवा में मिलाकर ज्वर उत्पन्न करने वाले सब कीटाणुओं को नष्ट कर देता है । सर्दी से चढ़ने वाले ज्वर में विशेषकर 'ट्रॉपिकल क्षेत्रों ' के ज्वर में यह पाया गया है । इसके सेवन से सर्दी छाती में उतरने नहीं पाती तथा छाती में बैठा कफ श्वास मार्ग से बाहर निकल जाता है । स्वरस में इतनी तीव्र सामर्थ्य है कि इससे कृमि तुरन्त मर जाते हैं और दस्त साफ होता है । वमन का तुरन्त शमन होता है ।

डा०जी० नादकर्णी के अनुसार तुलसी में कुछ ऐसे गुण हैं, जिनके कारण, यह शरीर की विद्युतीय संरचना को सीधे प्रभावित करती है । तुलसी की लकड़ी से बने दानों की माला गले में पहनने से शरीर में विद्युत् शक्ति का प्रवाह बढ़ता है तथा जीवकोशों द्वारा उनको धारण करने की सामर्थ्य में वृद्धि होती है । बहुत से रोग इस प्रभाव से आक्रमण करने के पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं तथा व्यक्ति की जीवनावधि बढ़ती है । डॉ०

जी० नादकर्णी के अनुसार कमजोर व्यक्ति यदि स्वल्प मात्रा में भी तुलसी की जड़ को प्रातः सायं घी के साथ लें, तो उनका ओजस् बढ़ता है ।

डॉ० खगेन्द्रनाथ बसु ने तुलसी का थोड़ा सा भी शरीर से सम्पर्क, संक्रामक व्याधियों को निरस्त कर देता है । तुलसी गुल्म के नीचे की मिट्टी को खाकर और उसे शरीर में लगाकर लोग व्याधि मुक्त होते पाये गये हैं ।इस कथन में कितनी सत्यता है, इसका विश्लेषण तो वैज्ञानिक शोध प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है । सम्भवतः इसी कारण मन्दिर मस्जिदों तथा गिरजा घरों के आस-पास तुलसी के पौधे लगाये जाने का प्रावधान रहा हो ।

तुलसी में अनेकों जैव सक्रिय रसायन पाये गये हैं, जिनमें टैनिन सैपोनिन-ग्लाइकोसाइड और एल्केलाइड्स प्रमुख हैं । अभी भी पूरी तरह से इनका विश्लेषण हो नहीं पाया है । तुलसी के बीजों में हरे-पीले रंग का तेल लगभग १७.८ प्रतिशत की मात्रा में पाया जाता है । इसके घटक हैं - कुछ सीटोस्टेराल, अनेकों वसा अम्ल मुख्यतः पामिटिक, स्टीयरिक, ओलिक, लिनोलिक और लिनोलेनिक अम्ल । तेल के अलावा बीजों में श्लेष्मक प्रचुर मात्रा में होता है । इस म्यूसिलेज के प्रमुख घटक हैं - पेन्टोस, हेक्जा यूरोनिक अम्ल और राख । राख लगभग ०२ प्रतिशत होती है ।

" इण्डियन ड्रग्स" पत्रिका (अगस्त १९७७) के अनुसार तुलसी में विद्यमान रसायन वस्तुतः उतने ही गुणकारी हैं, जिसका वर्णन शास्त्र में किया गया है । यह कीट नाशक है, कीट प्रतिकारक तथा प्रचण्ड जीवाणु नाशक है । विशेषकर एनाफिलिस जाति के मच्छरों के विरुद्ध इसका कीटनाशी प्रभाव उल्लेखनीय है । डा० पुष्पगंधन एवं सोबती ने अपने खोजपूर्ण लेख में बड़े विस्तार से विश्व भर में चल रहे प्रयासों की जानकारी दी है ।

तुलसी का ईथर निष्कर्ष टी०बी०के जीवाणु माइकोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस का बढ़ना रोक देती है । सभी आधुनिकतम औषधियों की तुलना में यह निष्कर्ष अधिक सान्द्रता में

श्रेष्ठ ही बैठता है। श्री रामास्वामी एवं सिरसी द्वारा दिये गये शोध परिणामों (द इण्डियन जनरल आफ फार्मेसी मई १९६७) के अनुसार तुलसी की टी०बी० नाशक क्षमता विलक्षण है। इस जीवाणु के ह्यूमन स्ट्रेन की वृद्धि को भी यह औषधि रोकती है।

'वेल्थ ऑफ इण्डिया' के अनुसार तुलसी का स्वरस तथा निष्कर्ष कई अन्य जीवाणुओं के विरुद्ध भी सक्रिय पाया गया है। इनमें प्रमुख है- स्टेफिलोकोकस ऑरियस, साल्मोनेला टाइफोसा और एक्केरेशिया कोलाई। इसकी जीवाणुनाशी क्षमता कार्बोलिक अम्ल से ६ गुना अधिक है। नवीनतम शोधों में तुलसी की जीवाणुनाशी सक्रियता अन्यान्य जीवाणुओं के विरुद्ध भी सिद्ध की गयी है। डा० कौल एवं डा० निगम जनरल ऑफ रिसर्च इन इण्डियन मेडीसिन) के अनुसार क्लेबसीला, केन्डिडा आदि सभी पर उत्पत तैल का प्रभाव मारक होता है। इसका जड़, पत्र, बीज व पंचांग प्रयुक्त करते हैं।

मात्रा - स्वरस की २ से ३ चम्मच। बीज चूर्ण १ से २ ग्राम। क्वाथ १ से २ औंस।(१) खाँसी अथवा गला बैठने पर तुलसी की जड़ सुपारी की तरह चूसी जाती है। काली तुलसी का स्वरस लगभग डेढ़ चम्मच काली मिर्च के साथ देने से खाँसी का वेग एकदम शान्त होता हैं। फेफड़ों में खरखराहट की आवाज आने व खाँसी होने पर तुलसी की सूखी पत्तियाँ ४ ग्राम मिश्री के साथ देते हैं। हिचकी एवं श्वास रोग में १ चम्मच तुलसी पत्र स्वरस २ चम्मच शहद के साथ देते हैं।

श्वास रोग में तुलसी के पत्ते काले नमक के साथ सुपारी की तरह मुँह में रखने से आराम मिलता है। जुकाम में तुलसी का पंचांग व अदरक समान भाग लेकर क्वाथ बनाते हैं। दिन में ३ बार लेते हैं।

(३) ज्वर यदि विषम प्रकार का हो तो तुलसी पत्र का क्वाथ ३-३ घण्टे पश्चात् सेवन करने का विधान है अथवा आधा चम्मच स्वरस मधु के साथ ३ -३ घण्टे में लें। हल्के ज्वर में कब्ज भी हो, तो काली तुलसी का स्वरस (२ चम्मच) एवं गौ घृत (१०ग्राम) दोनों को एक कटोरी में गुनगुना करके इस पूरी मात्रा को दिन में दो या तीन बार लेने

से कब्ज भी मिटता है, ज्वर भी। तुलसी की जड़ का काढ़ा भी आधे औंस की मात्रा में २ बार लेने से ज्वर में लाभ पहुँचता है। एक सामान्य नियम सभी प्रकार के ज्वरों के लिए यह है कि बीस तुलसी दल एवं दस काली मिर्च मिलाकर क्वाथ पिलाने से ज्वर तुरन्त उतर जाता है। मोतीझरा (टायफाइड) में १० तुलसी पत्र १ मासा जावित्री के साथ पानी में पीसकर शहद के साथ दिन में चार बार देते हैं।

(३) वमन की स्थिति में तुलसी पत्र स्वरस मधु के साथ प्रात:काल व जब आवश्यकता हो, पिलाते हैं। पाचन शक्ति बढ़ाने के लिए अपच रोगों के लिए तथा बालकों के यकृत् प्लीहा सम्बन्धी रोगों के लिए तुलसी के पत्रों का फाण्ट पिलाते हैं। छोटी इलायची, अदरक का रस व तुलसी पत्र का स्वरस मिलाकर देने पर उल्टी की स्थिति को शान्त करते हैं। दस्त लगने पर भुने जीरे के साथ मिलाकर (१० तुलसी पत्र + १ माशा जीरा) शहद के साथ दिन में तीन बार चाटने से लाभ मिलता है। अपच में मंजरी को काले नमक के साथ देते हैं। बवासीर रोग में तुलसी पत्र का स्वरस मुँह से लेने पर तथा स्थानीय लेप रूप में प्रयोग से तुरन्त लाभ करता है।

बालकों के संक्रामक अतिसार रोग में तुलसी के बीज पीसकर गौ दुग्ध में मिलाकर पीने से लाभ होता है। प्रवाहिका में पत्र स्वरस २ चम्मच प्रात: लेने पर रोग आगे नहीं बढ़ता। कृमि रोगों में तुलसी के पत्रों का फाण्ट सेवन करने से कृमिजन्य सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं। उदर शूल में तुलसी दलों को मिश्री के साथ देते हैं तथा संग्रहणी में बीज चूर्ण ३ ग्राम सुबह शाम मिश्री के साथ । अर्श में इसी चूर्ण को दही के साथ भी दिया जाता है।

(४) कुष्ठ रोग में तुलसी पत्र स्वरस प्रतिदिन प्रात: पीने से लाभ होता है। दाद, छाजन व खाज में तुलसी का पंचांग नीबू के रस में मिलाकर लेप करते हैं। उठते हुए फोड़ों में तुलसी के बीज एक माशा तथा दो गुलाब के फूल एक साथ पीसकर ठण्डाई बनाकर पीते हैं। पित्ती निकलने पर मंजरी व पुनर्नवा की पत्ती समान भाग लेकर संतरे का रस मिलाकर

रात्री को चेहरा धोकर अच्छी तरह लेप करते हैं। व्रणों के शीघ्र भरने तथा संक्रमण ग्रस्त जख्मों को धोने के लिए तुलसी के पत्तों का क्वाथ बनाकर उसका ठण्डा लेप करते हैं। रक्त विकारों में तुलसी व गिलोय का तीन -तीन माशे की मात्रा में क्वाथ बनाकर दो बार मिश्री के साथ लेते हैं।

(५) आधासीसी के दर्द में तुलसी की छाया में सुखायी मंजरी दो ग्राम शहद के साथ दी जाती है। मेधावर्धन हेतु तुलसी के पाँच पत्ते जल के साथ प्रतिदिन प्रातः लेना चाहिए। असाध्य शिरोशूल में तुलसी पत्र रस कपूर मिलाकर सिर पर लेप करने पर तुरन्त आराम मिलता है।

संधिशोथ में अथवा गठिया के दर्द में तुलसी का पंचांगचूर्ण चार माशे, गौ दुग्ध के साथ प्रातः - सायं लेते हैं। सियाटिका रोग में तुलसी पत्र क्वाथ से रोगग्रस्त वात नाड़ी का स्वेदन करते हैं।

(६) मूत्रकृच्छ (डिसयूरिया- पेशाब में जलन कठिनाई) में तुलसी बीज ६ ग्राम, १५ ग्राम जल में रात्रि में भिगोकर इस जल का प्रातः प्रयोग करते हैं। तुलसी स्वरस को मिश्री के साथ सुबह-शाम लेने से भी जलन में आराम मिलता है।

धातु दौर्बल्य में तुलसी के बीज (एक माशा) गाय के दूध के साथ प्रातः एवम् रात्रि देते हैं। ऐसा अनुभव है कि नपुंसकता में तुलसी का बीज चूर्ण अथवा मूल सम भाग में पुराने गुड़ के साथ खिलाने पर तथा नित्य डेढ़ से तीन ग्राम की मात्रा में गाय के दूध के साथ ५-६ सप्ताह तक लेने से लाभ होता है। प्रदर रोग में अशोक पत्र के स्वरस के साथ तथा मासिक धर्म की पीड़ा में क्वाथ को बार- बार देने से लाभ होता है।

तुलसी की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि- तुलसी को दैवी गुणों से अभिपूरित मानते हुए इसके विषय में अध्यात्म ग्रन्थों में काफी कुछ लिखा गया है। इसे संस्कृत में 'हरिप्रिया' कहते हैं। इस औषधि की उत्पत्ति से भगवान् विष्णु का मनः सन्ताप दूर हुआ, इसी कारण यह नाम इसे दिया गया है। ऐसा विश्वास है कि तुलसी की जड़ में सभी तीर्थ, मध्य में सभी देव-देवियाँ और ऊपरी शाखाओं में सभी वेद स्थित हैं। इस पौधे की पूजा विशेषकर स्त्रियाँ करती हैं। वैसे वर्ष भर तुलसी के थाँवले का पूजन

होता है, परन्तु विशेष रूप से कार्तिक मास में इसे पूजते हैं। ऐसा कहा जाता है कि जिसके मृत शरीर का दहन तुलसी की लकड़ी की अग्नि से किया जाता है, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं - उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

पद्म पुराण में लिखा है कि जहाँ तुलसी का एक पौधा होता है, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी निवास करते हैं। आगे वर्णन आता है कि तुलसी की सेवा करने से महापातक भी उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्य के उदय होने से अंधकार नष्ट हो जाता है। कहते हैं कि जिस प्रसाद में तुलसी नहीं होती, उसे भगवान् स्वीकार नहीं करते।

वनस्पति को प्रत्यक्ष देव मानने और घर-घर में उसे लगाने, पूजा करने के पीछे संभवतः यही कारण है कि यह सर्व दोष निवारक औषधि सर्व सुलभ तथा सर्वोपयोगी है। वातावरण में पवित्रता, प्रदूषण का शमन, घर परिवार में आरोग्य की जड़ें मजबूत करने, श्रद्धातत्व को जीवित करने जैसे अनेकों लाभ इसके हैं। तुलसी की सूक्ष्म व कारण शक्ति अद्वितीय है। यह आत्मोन्नति का पथ -प्रशस्त करती है तथा गुणों की दृष्टि से संजीवनी बूटी है।

विविध- विभिन्न प्रकार के अर्बुदों (कैंसर) में तुलसी के प्रयोग किये गये हैं। २५ या इससे अधिक ताजे पत्ते पीसकर नित्य पिलाने पर उनकी वृद्धि की गति रुकती है। इस कथन की सत्यता की परीक्षा हेतु शोध अनिवार्य है।

तुलसी के प्रत्येक हिस्से को सर्प विष में उपयोगी पाया गया है। सर्पदंश से पीड़ित व्यक्ति को यदि समय पर तुलसी का सेवन कराया जाय तो उसकी जान बच सकती है। जिस स्थान पर काटा हो, उस पर तुलसी की जड़ को मक्खन व घी में पीसकर उस पर लेप कर देना चाहिए। जैसे-जैसे जहर खिंचता चला जाता है, इस लेप का रंग सफेद से काला हो जाता है। काली परत को हटाकर फिर ताजा लेप कर देना चाहिए।

तुलसी एक प्रकार से सारे शरीर का शोधन करने वाली जीवनी शक्ति संवर्धक औषधि है। यह वातावरण का भी शोधन करती है तथा

पर्यावरण संतुलन बनाती है। इस औषधि के विषय में जितना लिखा जाय, उतना कम है।

जड़ी-बूटी एवं चिकित्सा सम्बन्धी अन्य पुस्तकें -

1. वनौषधि— एक संक्षिप्त मार्गदर्शिका (सचित्र)	मूल्य 40.00
2. जड़ी-बूटी से स्वास्थ्य संरक्षण (सचित्र)	मूल्य 35.00
3. आयुर्वेद का प्राण वनौषधि विज्ञान (सचित्र)	मूल्य 165.00
4. केचुआ खाद संदर्शिका (सचित्र)	मूल्य 20.00
5. जड़ी-बूटीयों की व्यावसायिक खेती	मूल्य 15.00
6. मसाला वाटिका से घरेलू उपचार	मूल्य 3.00

परिवर्तन तालिका

1 सी.सी =1 चम्मच	1 औंस = ढाई तोला
1 तोला = 12 ग्राम	1 माशा = 1 ग्राम

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल)

फोन (01334) 260602, 261955

फैक्स- 260866



विचार क्रान्ति अभियान

शान्तिकुंज, हरिद्वार